www.jagran.com राष्ट्रीय संस्करण
दैनिक जागरण
सोमवार 11 मार्च 2019

दैनिक जागरण

जो चीजें कष्ट पहुंचाती हैं वहीं सिखाती भी हैं

लोकतंत्र का उत्सव

निर्वाचन आयोग की ओर से आम चुनाव की तिथियां तय कर देने के साथ ही देश लोकतंत्र का उत्सव मनाने की दिशा में बढ़ चला है। पिछले आम चुनाव में मतदान के नौ चरणों के मुकाबले इस बार सात चरण घोषित होने से यह तो स्पष्ट होता है कि निर्वाचन आयोग पहले के मुकाबले कुछ और समर्थ हुआ है, लेकिन उसकी कोशिश यही होनी चाहिए कि चुनाव की प्रक्रिया कम से कम लंबी हो। आज के इस तकनीकी युग में अपेक्षाकृत छोटी चुनाव प्रक्रिया के लक्ष्य को हासिल करना कठिन नहीं होना चाहिए। निर्वाचन प्रक्रिया न केवल यथासंभव छोटी होनी चाहिए, बल्कि वह राजनीतिक दलों और उनके प्रत्याशियों के छल-कपट से मुक्त भी होनी चाहिए। यह सही है कि पहले की तुलना में आज की चुनाव प्रक्रिया कहीं अधिक साफ-सुथरी और भरोसेमंद है, लेकिन एक सच्चाई यह भी है कि वह बेहद खर्चीली होने के साथ ही धनबल से भी दुष्प्रभावित होने लगी है। विडंबना यह है कि चुनाव लड़ने वाले इस आशय का शपथपत्र देकर छुट्टी पा लेते हैं कि उन्होंने तय सीमा के अंदर ही धन खर्च किया। यह विडंबना तब है जब हर राजनीतिक दल और खुद निर्वाचन आयोग भी इससे अवगत है कि आज चुनावों में किस तरह पानी की तरह पैसा बहाया जाता है। अब तो हालत है कि पैसे बांटकर चुनाव जीत लेने की प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। समस्या यह है कि जहां जागरूक जनता चुनावी खामियों को दूर करने की जरूरत महसूस करती है वहीं राजनीतिक दल ऐसी किसी जरूरत पर ध्यान ही नहीं देते। यह अच्छा नहीं हुआ कि बीते पांच साल में न तो कोई ठोस राजनीतिक सुधार किया गया और न ही चुनावी सुधार। आम चुनाव को भले ही लोकतंत्र के उत्सव की संज्ञा दी जाती हो, लेकिन सच यह है कि इस उत्सव में राजनीतिक बैर भाव अपने चरम तक पहुंचता दिखता है। कई बार परस्पर विरोधी राजनीतिक दल-एक दूसरे के प्रति शत्रुवत व्यवहार करते हैं। वे न केवल अपने राजनीतिक विरोधियों के प्रति अशालीन-अमर्यादित भाषा का इस्तेमाल करते हैं, बल्कि उन्हें बदनाम करने और नीचा दिखाने के लिए झूठ और कपट का सहारा भी लेते हैं। इसका कोई औचित्य नहीं कि आम चुनाव के मौके पर राजनीतिक विमर्श रसातल में चला जाए। दुर्भाग्य से राजनीतिक दलों से यह उम्मीद कम ही है कि वे राजनीतिक शुचिता और लोकतांत्रिक मर्यादा का ध्यान रखते हुए चुनाव लड़ेंगे। ऐसे में मतदाताओं की जिम्मेदारी बढ़ जाती है कि वे अपने मताधिकार का इस्तेमाल सोच-समझकर करें। अपने देश में यह एक बीमारी सी है कि बाकी समय तो हम सब जातिवाद, संप्रदायवाद, क्षेत्रवाद को कोसते हैं, लेकिन वोट देते समय जाति-मजहब को ही महत्व दे देते हैं। जात-पांत के आधार पर राजनीति इसीलिए होती है, क्योंकि एक तबका इसी आधार पर वोट देता है। यह भी किसी से छिपा नहीं कि कई बार राष्ट्रहित के मसलों से अधिक महत्व संकीर्ण स्वार्थों को दे दिया जाता है। चूंकि आम चुनाव देश के भविष्य के साथ राजनीति की भी दशा-दिशा तय करते हैं इसलिए आम मतदाता का इस भाव से लैस होना जरूरी है कि वह वोट के जरिये एक महती काम करने जा रहा है।

अधूरी योजनाओं से झटका

स्वास्थ्य सेवाओं के मामले में झारखंड नया आयाम गढ़ने की कोशिश कर रहा है। हाल के दिनों में हजारीबाग, दुमका और पलामू में एक-एक मेडिकल कॉलेज का उद्घाटन इसकी बानगी है। सरकार के इस प्रयास से राज्य में मेडिकल की सीट बढ़कर 650 हो जाएगी। माना जा रहा है कि चिकित्सकों की कमी से जूझ रहे झारखंड के अस्पतालों को इससे बहुत हद तक राहत मिलेगी। सरकार के इस कदम की सराहना की जानी चाहिए। इससे इतर राज्य में बेहतर स्वास्थ्य सुविधा बहाल करने के निमित्त खड़ी की गई दर्जनों संरचनाओं का कोई पुरसाहाल नहीं है। इनमें लाखों की लागत पर निर्मित स्वास्थ्य उपकेंद्र भी हैं तो अरबों की लागत से तैयार सदर अस्पताल तक के भवन भी। इन केंद्रों और अस्पतालों का संचालन सिर्फ इसलिए नहीं हो रहा है, क्योंकि वहां अबतक मानव संसाधन बहाल नहीं किए गए हैं। कहीं बिजली बहाल नहीं हुई है तो कहीं जलापूर्ति की किल्लत है, कहीं उपकरण है तो ऑपरेटर नहीं है, कहीं चिकित्सक हैं तो पारा मेडिकल स्टाफ नदारद। लोहरदगा के पेशरार स्थित प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र इसकी बानगी है। इसका निर्माण वर्ष 2011 में शुरू हुआ। 1.06 करोड़ रुपये खर्च होने के बाद ठेकेदार ने निर्माण कार्य बिना बताए बंद कर दिया। इसके लिए न तो ठेकेदार पर कार्रवाई हुई और न ही अभी तक इसका निर्माण कार्य ही पूरा हुआ। इस परियोजना के धरातल पर उतर आने से आसपास के 73 गांवों के लगभग 31 हजार लोगों को स्वास्थ्य सुविधाएं मिलतीं। वित्तीय वर्ष 2007-08 की ऐसी 93 स्वास्थ्य योजनाएं हैं, जो आज भी आधी-अधूरी हैं। 500 बेड वाला रांची सदर अस्पताल भी इनमें से एक है। इंजीनियरों और अफसरों की लापरवाही की वजह से इस आधे-अधूरे भवन के 200 बेड पर किसी तरह इलाज शुरू हो सका। राज्य के लिए यह स्थिति चिंतनीय है। स्वास्थ्य के राष्ट्रीय बेंचमार्क पर कई मामलों में पिछड़े इस राज्य को स्वास्थ्य के मानकों पर स्थापित करने के लिए जरूरी है आत्म चिंतन की। जरूरत है एक स्पष्ट नीति बनाने की ताकि परियोजनाएं बिना किसी लागलपेट के समय पर पूरी हो सकें।

भारत विरोध की ग्रंथि से पीड़ित पाकिस्तान

हृदयनारायण दीक्षित

प्राचीन भारतीय संस्कृति और विरासत का सहभागी होने के बावजूद पाकिस्तान की भारत विरोधी ग्रंथि उसे अक्सरआत्महत्या के लिए उकसाती रहती है

कृत्रिम में प्राकृतिक सौंदर्य नहीं होता। अप्राकृतिक में प्राकृतिक गुणसूत्र नहीं होते। राष्ट्र गठन का आधार सांस्कृतिक तत्व होते हैं। पाकिस्तान स्वाभाविक राष्ट्र नहीं है। पुलवामा और बालाकोट की घटनाओं के बाद पाकिस्तान की मानसिकता अंतरराष्ट्रीय विवेचन का विषय बनी है। भारत में पाकिस्तान मुर्दाबाद के नारे लग रहे हैं। पाकिस्तान 1947 तक भारत था। इसके पहले यह भाग ब्रिटिश सत्ता में था। अतीत में यह मौर्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य का भी भाग था। यह सिंधु सभ्यता का क्षेत्र था। अभी दो वर्ष पहले पाकिस्तान के पेशावर क्षेत्र में बख्शाली गांव से बख्शाली लिपि में लिखित शून्य की जानकारी मिली थी। भारत को इस प्राचीन ज्ञान पर गर्व है। भारतीय दर्शन एवं ज्ञान शोध के तमाम भू-भाग अब पाकिस्तान में हैं। दुनिया का प्राचीनतम विश्वविद्यालय तक्षशिला भारतीय स्वाभिमान का प्रतीक है। कौटिल्य वहीं आचार्य थे। यहां भारत के मन को आनंद देने वाली सिंधु नदी का क्षेत्र भी है। मूलभूत प्रश्न है कि ऐसी प्राचीन भारतीय विरासत के बावजूद पाकिस्तान की मानसिकता भारत विरोधी क्यों है? वह भारत जैसा होने को बेताब है, लेकिन उसके मन की भारत विरोधी ग्रंथि उसे आत्महत्या के लिए उकसाया करती है। आखिर उसे अपने मुल्क की बेहतरी की चिंता क्यों नहीं है? भारत को ही नीचा दिखाने की मानसिकता का रहस्य क्या है?

पंथ, मजहब की बुनियाद पर राष्ट्र नहीं बनते। मौलाना मौदूदी इस्लामी विद्वान ने 'मसल्लम कौमियत' में लिखा था, 'जहां इस्लाम है, वहां राष्ट्रीयता के लिए कोई जगह नहीं।' स्वाधीनता संग्राम में मुस्लिम मित्रों की कम भागीदारी से गांधी जी चिंतित थे। 'हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट' के उद्धरण में मौदूदी के मुताबिक 'मुसलमान भी भारत की आजादी के उतने ही इच्छुक थे, जितने बाकी लोग, लेकिन वे इसे एक पड़ाव मानते थे।' एफके दुर्रानी ने 'मीनिंग ऑफ पाकिस्तान' में इसका खुलासा किया, 'पाकिस्तान का निर्माण इसलिए जरूरी था कि इसे शिविर बनाकर शेष भारत का इस्लामीकरण किया जाए। मुस्लिम लीग मजहबी आधार पर अलग मुल्क मांग रही थी। उसकी मुहिम में लाखों गैर-मुस्लिम मारे गए थे। खूब रक्तपात हुआ। फिर देश बंट गया। भारत ने नवंबर 1949 में संविधान बनाया। पाकिस्तान का संविधान सात साल बाद 1956 में बना। पाकिस्तान ने स्वयं को इस्लामी गणराज्य घोषित किया। पूर्वी पाकिस्तान में उर्दू के सवाल पर आंदोलन हुआ। इसे कुचलने के लिए 'सर्चलाइट ऑपरेशन' हुआ। लाखों मारे गए। भारत ने हस्तक्षेप किया। पूर्वी पाकिस्तान टूटकर बांग्लादेश बना।

देश रक्तपात और सेना प्रायोजित आतंकवाद से नहीं चलते। पाकिस्तान ने 1973 में नया संविधान बनाया। भारतीय संस्कृति की विरासत न 1956 के संविधान में थी और न ही 1973 के नए संविधान में। 1956 के संविधान में यह इस्लामी गणतंत्र था। 1973 में नई बात जुड़ी कि सभी कानून कुरान के अनुसार बनाए जाएंगे। पाकिस्तान भारत की बराबरी चाहता है। भारत में अटल जी के नेतृत्व में परमाणु परीक्षण हुआ। यह आत्मरक्षा आवश्यकता थी। देखा-देखी पाकिस्तान ने भी किया। लेबनानी विद्वान खलील जिब्रान ने मजेदार बात लिखी थी, 'मेंढक बैलों की तुलना में भले ही अधिक शोर कर लें, लेकिन वे न तो हल खींच सकते हैं और न ही कोल्हू का चक्र हिला सकते हैं।' पाकिस्तानी नेता अक्सर भारत को परमाणु बम की धमकी देते हैं कि तब यहां न चिड़िया बोलेगी और न मंदिर की घंटिया बजेंगी। भारत ने परमाणु धमकी कभी नहीं दी कि तब पाकिस्तान में न अजान होगी और न ही आतंकी ट्रेनिंग स्कूल चलेंगे। पाकिस्तान भारत विरोधी ग्रंथि के चलते बम और युद्ध की धमकियां देता है। आम पाकिस्तानी भारत जैसी समृद्धि और भारत जैसा लोकतांत्रिक समाज चाहते हैं, लेकिन भारत विरोधी ग्रंथि उसे चैन से नहीं बैठने देती।

पाकिस्तानी मानसिकता में हिंदू समाज के प्रति घृणा है। पाकिस्तान में घृणा भाव की तालीम भी दी जाती है। एक पाकिस्तानी प्रधानमंत्री जेडए भुट्टो के सलाहकार रहे खुर्शीद कमाल अजीज 'इतिहास का कत्ल' में लिखते हैं, '1965 और 1971 के युद्धों को पाकिस्तान की विजय के रूप में दर्शाया गया। पुस्तकें छात्रों में भारत और हिंदुओं के प्रति घृणाभाव उत्पन्न करने के लिए तैयार होती हैं। हिंदू धर्म और संस्कृति का पक्षपातपूर्ण वर्णन, तिरस्कार और यह दावा कि विभाजन के वक्त और उसके बाद सांप्रदायिक दंगे केवल हिंदुओं, सिखों द्वारा फैलाए गए थे। मुसलमान कहीं भी आक्रमणकारी नहीं थे।' अजीज ने पाठ्य पुस्तक 'मुआशाराती' से उद्धरण दिए, 'राजा जयपाल ने महमूद गजनवी के मुल्क में घुसने की कोशिश की। इस पर गजनवी ने जयपाल को हरा दिया। लाहौर हथिया लिया।' पाकिस्तानी स्वयं पर ही हमलावर रहे मोहम्मद बिन कासिम, गोरी, गजनी को हमलावर नहीं मानते। वे अपनी मिसाइलों का नाम उन पर रखते हैं। हमलावरों के प्रति ऐसी मोहब्बत को क्या कहें? यूरोप में इसे 'स्टाकहोम सिंड्रोम' कहते हैं। स्टाकहोम में अपहर्ताओं के चंगुल में फंसी युवती उन्हीं को दिल दे बैठी थी।

पाकिस्तानी मानस को भारत घृणा के रसायन से विषाक्त किया गया है। पूर्व राजनयिक जेएन दीक्षित ने लिखा, 'भारत विभाजन का उद्देश्य हिंदू क्षेत्रों को छोटे राजनीतिक भूभागों में बांटना एवं उपमहाद्वीप में सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति के रूप में पाकिस्तान बनाना था। पाकिस्तान का अंतिम लक्ष्य भारत विखंडन है। भारत सभी युद्धों में पाकिस्तान को हराने के बावजूद उसके प्रति उदार रहा, लेकिन पाकिस्तानी सत्ता भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण दृष्टिकोण रखती है।' वहां यहीं नीतिगत निरंतरता है। हाल में पाकिस्तानी पंजाब के मंत्री फैयाजुल हसन चौहान ने हिंदुओं को अपशब्द कहे। इस पर विवाद के बाद उन्हें इस्तीफा देना पड़ा। उन्होंने माफी भी मांगी, लेकिन मूल प्रश्न उनकी मानसिकता का है जो निजी नहीं है। वह पाक की भारत विरोधी ग्रंथि का ही प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

पाक विघटन के कगार पर है। पाकिस्तान बनने के कुछ समय बाद ही पठान, बलूच, पंजाबी, पख्तून, सिंधी, मोहाजिर समूह पीड़ित महसूस करने लगे थे। शिया, सुन्नी, इस्माइली, दाऊदी बोहरा के टकराव भी सतह पर हैं। पुराना आरोप स्थायी है कि पाकिस्तान ने बलूचिस्तान को धोखे से मिलाया। 1958, 1963 से 1969 और 2004 में तमाम आंदोलन हुए थे। अब भी जारी हैं। बलूच स्वतंत्र सांस्कृतिक अस्मिता है। पाक ने बलूचिस्तान आंदोलन को कुचलने के लिए वायु सेना का भी दुरुपयोग किया है। वास्तविक राष्ट्र अपने नागरिकों के विरुद्ध सेना का प्रयोग नहीं करते, लेकिन पाक में दमन के सभी रास्ते जायज हैं। नागरिक स्वतंत्रता समाप्त हो रही है। ईशनिंदा कानून की तलवारें हैं। कोर्ट के निर्णय भी नहीं माने जाते। फौज और आइएसआइ ही असली शासक हैं। पाकिस्तान आतंकवादी प्रशिक्षण का विश्वविद्यालय है। आतंकी भारत आकर रक्तपात करते हैं। पाकिस्तान सुबूत मांगता है। सुबूत दिए भी जाते हैं। वार्ता की पेशकश होती है। मोदी के नेतृत्व में इस दफा की 'वार्ता' वायुसेना ने की। बालाकोट की वारदात पाकिस्तानी भाषा वाली वार्ता ही थी। देश प्रसन्न है। इसी भाषा से पाकिस्तान की भारत विरोधी ग्रंथि का उपचार होगा।

(लेखक उत्तर प्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष हैं)

response@jagran.com

दोहरे लाभ वाला कारगर कदम

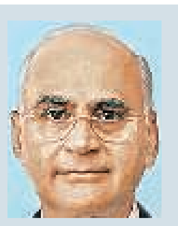

जीएन वाजपेयी

कंस्ट्रक्शन में तेजी से रोजगार सृजन के साथ ही सभी के लिए घर की जरूरत का राष्ट्रीय सपना भी साकार होगा

बीते साल के आखिरी दिन 31 दिसंबर को राजधानी दिल्ली में तापमान लगभग 2.6 डिग्री सेल्सियस दर्ज किया गया था। हाड़ कंपा देने वाली ऐसी सर्दी में सबसे ज्यादा आफत बेघर लोगों पर ही आती है। बेरहम सर्दी से बचने के लिए उनके पास रैनबसेरों में आसरा लेने के अलावा और कोई चारा नहीं होता। मगर रैनबसेरों में भी लोगों का अंबार लगा रहता है। यहां तक कि इन रैनबसेरों में भी सुविधाओं का नितांत अभाव होता है। वहां रहने वालों को भी बहुत संघर्ष करना पड़ता है, लेकिन उनकी मजबूरी है, क्योंकि उनके लिए किराये पर घर लेना संभव नहीं है। जब राजधानी दिल्ली की स्थिति ऐसी है तो फिर दूरदराज के इलाकों के हालात की बस कल्पना ही की जा सकती है। वहां तो रैनबसेरों का कोई अस्तित्व ही नहीं दिखेगा। इसकी वजह से भीषण गर्मी या सर्दी के प्रतिकूल मौसम में तमाम लोगों की मौत तक हो जाती है। भारत में लोगों के पास घर न होना एक बड़ी समस्या है। अधिकांश अनुमानों के अनुसार भारत में करीब दो करोड़ घरों की कमी है।

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने 15 अगस्त, 2015 को लालकिले की प्राचीर से एलान किया था कि वर्ष 2022 तक देश में प्रत्येक व्यक्ति को मकान उपलब्ध कराया जाएगा। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए तमाम योजनाएं चलाई जा रही हैं। इनमें किफायती मकानों के निर्माण से लेकर आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिए ब्याज दरों में छूट दी जा रही है। सरकार की तमाम योजनाओं और उन्हें सिरे चढ़ाने के लिए किए जा रहे गंभीर प्रयासों से इस लक्ष्य प्राप्ति में उसकी ईमानदारी झलकती है। केंद्रीय शहरी विकास एवं आवास मंत्रालय की वेबसाइट पर उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार वित्त वर्ष 2018-19 की तीसरी तिमाही में योजना के तहत 72.66 लाख मकानों को मंजूरी दी गई। योजना के तहत काफी संख्या में मकानों का निर्माण हो चुका है और उनमें से तमाम मकान लोगों को आवंटित भी हो चुके हैं। प्रत्येक बेघर और आर्थिक रूप से कमजोर तबके के लोगों को मकान जैसी सुविधा उपलब्ध कराने से उनका जीवन स्तर बेहतर होगा, उनके जीवन में खुशियां बढ़ेंगी और इसका सीधा असर बेहतर उत्पादकता में भी नजर आएगा। वहीं यह भी एक सकारात्मक पहलू है कि मकानों की कमी में अंतर की भरपाई के लिए होने वाली इस कवायद से जुड़ी गतिविधियों के कारण सकल घरेलू उत्पाद यानी जीडीपी को रफ्तार मिलेगी और बड़े पैमाने पर रोजगार के अवसर भी सृजित होंगे।

भारत में कृषि के बाद भवन निर्माण यानी कंस्ट्रक्शन ही सबसे बड़ा रोजगारप्रदाता क्षेत्र है। इसमें कच्ची सामग्री से लेकर विनिर्मित उत्पादों से संबंधित करीब 269 छोटे-बड़े उद्योग प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जुड़े हुए हैं। इसमें इस्पात,

सीमेंट, पेंट, फर्नीचर से लेकर तमाम छोटे उद्योगों के उत्पादों की बड़ी भूमिका होती है। अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले 14 बड़े उद्योगों की सूची में कंस्ट्रक्शन तीसरे पायदान पर आता है। कंस्ट्रक्शन में निवेश होने वाले प्रति एक रुपये से जीडीपी में 78 पैसों का जुड़ाव होता है। अर्थव्यवस्था पर गुणात्मक प्रभाव के मामले में भी कंस्ट्रक्शन परिवहन एवं कृषि जैसे क्षेत्रों की तुलना में कहीं आगे है और इस पैमाने पर चौथे स्थान पर आता है।

परंपरागत रूप से कंस्ट्रक्शन असंगठित, छितरा हुआ और टुकड़ों में बंटा हुआ कारोबार रहा है जिसे संगठित करने की कवायद में सामने आनी वाली संक्रमणकालीन चुनौतियों के चलते इसकी रफ्तार कुछ सुस्त पड़ गई है। निर्माण गतिविधियों में आए इस ठहराव से रोजगार के अवसरों पर भी बुरा असर पड़ा। हालांकि सुधारों की यह प्रक्रिया लगभग आकार ले चुकी है और यह उद्योग भी अब इससे संभलकर फिर से रफ्तार पकड़ रहा है। असल में कंस्ट्रक्शन उद्योग से जुड़े सभी अंशभागियों जैसे निवेशकों, खरीदारों और कर्जदाताओं सभी के हितों को सुरक्षित रखने के लिए ये सुधार अपरिहार्य ही नहीं अनिवार्य हो चले थे। इन सुधारों से ही प्रत्येक परिवार के लिए घर के राष्ट्रीय सपने का साकार होना संभव है। सुधारों की प्रक्रिया में महसूस हुआ कुछ दर्द भी ऊंची वृद्धि के मरहम से जल्द ही हवा होने वाला है। इससे आर्थिक समृद्धि के नए द्वार खुलेंगे।

दुनिया को हतप्रभ कर देने वाली चीन की तेज रफ्तार आर्थिक वृद्धि में कंस्ट्रक्शन उद्योग की बेहद अहम भूमिका रही है। वास्तव में रियल एस्टेट और कंस्ट्रक्शन की चीन के जीडीपी में 15 प्रतिशत और कुल रोजगार में 20 प्रतिशत की हिस्सेदारी है। एक अनुमान पर गौर करें तो 50 लाख लोगों के लिए घर जीडीपी में कम से कम एक प्रतिशत का इजाफा कर सकते हैं। केवल कंस्ट्रक्शन उद्योग में ही सालाना 50 लाख लोगों को रोजगार मिलने का अनुमान है। कंस्ट्रक्शन के विभिन्न स्तरों पर लगे कामगारों के अलावा प्रॉपर्टी सलाहकारों से लेकर होम डेकोरेटर्स जैसे तमाम पेशेवरों के लिए इससे रोजगार मिलेगा। कंस्ट्रक्शन को अक्सर 'घरेलू वृद्धि का इंजन' भी कहा जाता है।

हालांकि इस लक्ष्य को हासिल करने में आने वाले अवरोधों को दूर करने के लिए तत्काल कुछ कदम उठाने की आवश्यकता है। कंस्ट्रक्शन गतिविधियों की स्वीकृति के लिए सिंगल विंडो वाली व्यवस्था बनानी होगी। कर्ज के लिए आसान और लचीली व्यवस्था बनाकर उसे प्रभावी रूप से लागू करना होगा। निजी क्षेत्र को करों में कुछ छूट भी देनी होगी। इसके अलावा निजी कंस्ट्रक्शन कंपनियों के लिए व्यावसायिक पैमाने पर नई रणनीतिक विचार प्रक्रिया भी विकसित करनी होगी ताकि उन्हें वित्तीय संसाधन सुलभ हों। इसमें उन्हें दिए गए कर्ज की वापसी और ब्याज की अदायगी भी सुनिश्चित करनी होगी। वास्तव में वाणिज्यिक बैंकों, गैर-बैंकिंग वित्तीय संस्थानों और हाउसिंग फाइनेंस कंपनियों को एक अलग श्रेणी बनाकर कंस्ट्रक्शन उद्योग को कर्ज देने के मामले में दीर्घावधिक देनदारी का खाका तैयार करना चाहिए। फिलहाल इसमें कंपनियों को तीन साल तो उपभोक्ताओं को 20 साल की मियाद मिलती है। इससे कर्जदाताओं के लिए परिसंपत्ति-देनदारी की गुत्थी सुलझ जाएगी और उनकी आगे की राह आसान होगी।

रेरा, जीएसटी और आरईआइटी जैसे तमाम सुधारों में कंस्ट्रक्शन उद्योग को वह शक्ति देने की क्षमता है जिसमें वे विकसित देशों की कंपनियों की तर्ज पर काम कर सकती हैं। हालांकि तेज वृद्धि के लिए सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की कोशिशों के बीच बेहतर समन्वय के लिए शुरुआती प्रोत्साहन की आवश्यकता होगी। शहरी विकास एवं आवास मंत्रालय ने एक लक्ष्य तय कर लिया है जिसमें सभी अंशभागियों के हितों को ध्यान में रखते हुए गंभीरता के साथ आगे बढ़ना होगा।

(लेखक सेबी और एलआइसी के पूर्व चेयरमैन हैं)

response@jagran.com

ऊर्जा

मृत्यु भय से मुक्ति

सिखों के धर्म ग्रंथ में बताया गया है कि मनुष्य योनि प्राणियों में सबसे उत्तम है, क्योंकि मनुष्य के पास विवेक होता है, जिससे वह अपनी जीवन यात्रा सुगमता से पूरी कर भवसागर से मोक्ष प्राप्त कर सके। इसलिए ईश्वर ने केवल मनुष्य को विवेक के अनुसार कर्म करने की स्वतंत्रता प्रदान की है, परंतु अक्सर ऐसा देखने में आता है कि मनुष्य इस अधिकार का प्रयोग ज्यादातर क्षणिक आनंद एवं इंद्रिय तृप्ति के लिए ही करता है। इस कारण वह इंद्रियों के बस में फंसकर जीवन का उद्देश्य केवल इंद्रिय तृप्ति तथा इसको जीवन पर्यंत प्राप्त करने की सुरक्षा के प्रयासों में ही गुजार देता है। जबकि मनुष्य योनि का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए ईश्वर प्राप्ति तथा मोक्ष। इसके लिए जिस प्रकार शरीर की ऊर्जा के लिए भोजन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ईश्वर प्राप्ति के लिए ईश्वर के अंश आत्मा (जो हर प्राणी के अंदर विद्यमान हैं उससे साक्षात्कार की) का भी महत्व है। विवेक केवल मनुष्य के पास होता है इसलिए आत्मा से साक्षात्कार भी केवल मनुष्य ही कर सकता है, परंतु इसके लिए रास्ता आध्यात्मिक पथ से जाता है और मनुष्य को इंद्रिय तृप्ति के स्थान पर नैतिकता के पथ पर चलकर कर्मफल से मुक्त होकर सम स्थिति में प्रवेश करना होता है, परंतु एक साधारण मनुष्य जीवन की आपाधापी में इस मार्ग से कोसों दूर रहकर आत्म साक्षात्कार की कल्पना भी नहीं करता।

ऐसा मनुष्य प्रकृति से निर्मित इस जड़ शरीर को ही स्वयं समझता है। इसलिए इसके अंत रूपी मुकाम मृत्यु से वह बहुत ज्यादा भयभीत रहता है और जैसे-जैसे आयु के अनुसार शरीर शिथिल होता जाता है उसका भय और भी बढ़ने लगता है। जबकि आध्यात्मिक एवं नैतिक मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति कर्मफल से मुक्त होकर सम स्थिति को प्राप्त करके आत्मा से साक्षात्कार कर ईश्वर दर्शन कर लेता है। ऐसा व्यक्ति शरीर के स्थान पर आत्मा को स्वयं मानता है। वह-मैं ईश्वर का अंश मानकर-अपने आप को अविनाशी समझता है। ऐसा व्यक्ति शरीर के अंत का तात्पर्य केवल वस्त्र बदलने की प्रक्रिया की तरह समझकर मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। आइए नैतिकता एवं अध्यात्म के ज्ञान से आत्म साक्षात्कार करके मृत्यु पर विजय प्राप्त करें!

कर्नल (रिटायर्ड) शिवदान सिंह

इलेक्ट्रिक वाहनों को बढ़ावा देने का वक्त

देवेंद्रराज सुथार

भारत दुनिया का चौथा सबसे बड़ा ऑटोमोबाइल बाजार है, जहां 25 मिलियन से अधिक मोटर वाहन बनते हैं

इंटरनेशनल काउंसिल ऑन क्लीन ट्रांसपोर्टेशन, जॉर्ज वॉशिंगटन यूनिवर्सिटी और यूनिवर्सिटी ऑफ कोलोरैडो बॉल्डर के शोधार्थियों ने साल 2010 से 2015 के बीच वैश्विक, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और स्थानीय स्तर पर सर्वे किया जिससे पता चला कि साल 2015 में दुनिया में लगभग 3 लाख 85 हजार मौतों की वजह वाहनों से निकलने वाला धुआं रहा।

वाहनों के धुएं से होने वाली ये मौतें संकेत कर रही हैं कि आज इलेक्ट्रिक वाहन (ईवी) आधारित तंत्र को भारत में विकसित करने की अत्यंत आवश्यकता है। इसके सफल क्रियान्वयन के लिए हमें कई कठिनाइयों को दूर करने पर ध्यान देना होगा। जिस तरह से चीन ने इस दिशा में अपना ध्यान केंद्रित करते हुए अपने देश में इलेक्ट्रिक बसों के उपयोग को प्रोत्साहन प्रदान दिया है उससे चीन में न केवल वायु प्रदूषण कम हुआ है, बल्कि वह दुनिया का सबसे बड़ा इलेक्ट्रिक बस निर्माता बनकर भी उभरा है। अकेले 2016 में चीन की सड़कों पर लगभग 80 हजार इलेक्ट्रिक बसें उतारी गईं। दूसरी ओर नीदरलैंड ने इलेक्ट्रिक वाहनों के खरीदारों को प्रोत्साहन प्रदान करके इसके बाजार पर कब्जा कर लिया है। इसके लिए उसने न सिर्फ चार्जिंग से संबंधित तकनीकी में निवेश किया है, बल्कि जरूरी ढांचागत विकास भी किया है। यही वजह है कि आज इस प्रौद्योगिकी का वह एक प्रमुख निर्यातक है। अध्ययन बताते हैं कि ईवी के सकारात्मक आर्थिक प्रभावों के कारण निरंतर विकास भी संभव है। भारत आज दोपहिया और ऑटो-रिक्शा का सबसे बड़ा निर्माता और निर्यातक है। क्या ये वाहन देश में ईवी क्रांति का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं?

भारत वर्तमान में लिथियम-आयन (ली-आयन) बैटरी का उत्पादन नहीं करता है और बैटरी पैक बनाने वाली कंपनियां चीन से आयात पर निर्भर हैं। भारत में 'मेक इन इंडिया' के तहत इसे जोड़ा जाना चाहिए। यहां बैटरी बनाने और वैकल्पिक तकनीकों की खोज में अनुसंधान और विकास के लिए निवेश की आवश्यकता है। मानक वैश्विक बुनियादी ढांचे की अनुपस्थिति भारत में ईवी के लिए एक प्रमुख बाधा है। इसके लिए सरकार द्वारा उचित चार्जिंग तकनीक का चयन करने और उसे विकसित करने की आवश्यकता है जो उपयोगकर्ताओं के लिए सुविधाजनक और सुरक्षित रहते हुए बुनियादी ढांचे की लागत को कम कर सके। भारत दुनिया का चौथा सबसे बड़ा ऑटोमोबाइल बाजार है, जहां 25 मिलियन से अधिक मोटर वाहन उत्पादित होते हैं। इस क्षेत्र में अभी लाखों लोगों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से रोजगार मिले होने का अनुमान है। अभी देश के सकल घरेलू उत्पाद में इसका योगदान 7.1 प्रतिशत है। माना जा रहा है कि आगामी कुछ वर्षों में इस उद्योग से 65 मिलियन लोगों को अतिरिक्त रोजगार मिलेंगे और सकल घरेलू उत्पाद में इसका 12 प्रतिशत से अधिक योगदान होगा।

जाहिर है यदि ई-वाहनों के मार्ग में आने वाली इन आधारभूत समस्याओं को दूर करने पर ध्यान दिया जाए तो देश में इस क्षेत्र में और नई नौकरियों के सृजन में भी मदद मिलेगी।

(लेखक स्वतंत्र टिप्पणीकार हैं)

मेलबाक्स

चुनावी बढ़त

संजय गुप्त ने अपने आलेख 'मजबूत राजनीतिक जमीन पर मोदी' में यह ठीक ही कहा है कि पुलवामा हमले के प्रतिकार स्वरूप सेना ने बहुत ही सधे कदमों से पाकिस्तान पोषित आतंकवाद पर जो प्रहार किया है, उससे देशवासियों के दिलों में नरेंद्र मोदी के प्रति विश्वास बढ़ा है, जिसका फायदा आम चुनाव में भाजपा को अवश्य मिलेगा। लेकिन इसके साथ इस जमीनी हकीकत से भी मुंह नहीं मोड़ा जा सकता कि इस देश में अभी तक जैसा चलता रहा है उसमें रमने वाले लोग यह नहीं चाहते कि देश के अंदर कोई विकासपरक परिवर्तन हो। आज ऐसे ही आत्मकेंद्रित लोग भारतीय सेना की बहादुरी के सुबूत मांग रहे हैं। राफेल विमान के साफ-सुथरे सौदे के संदर्भ में झूठ पर झूठ बोल कर, उसे दागदार बनाने की नाकाम कोशिश कर रहे हैं। राजनीति के अखाड़े में एक दूसरे को पटखनी देने के लिए आतुर रहने वाले सपा-बसपा जैसे राजनीतिक दल केवल मोदी विरोध में एक दूसरे के साथ मिलकर चुनाव लड़ने को विवश हैं। कमोबेश यही विरोधाभासी स्थिति अन्य राज्यों के क्षेत्रीय दलों की भी है। ऐसे में राहत देने वाली बात केवल इतनी है कि इन क्षेत्रीय दलों के पास देश की जनता को समझाने के लिए खोखले मोदी-विरोध के अलावा कुछ भी नहीं है। समक्ष नेतृत्व और राष्ट्रहितैषी नीतियों से रहित इनके 'मोदी-विरोध' को देश की आम जनता कोई भाव देगी, इसकी संभावना बहुत सीमित है। इस मायने में भाजपा का पलड़ा भारी जरूर है, लेकिन उसकी चुनावी चुनौतियां भी कम नहीं हैं।

डॉ. वीपी पाण्डेय, अलीगढ़

सैन्य कार्रवाई का प्रभाव नहीं

मजबूत राजनीतिक जमीन पर मोदी शीर्षक से लिखे अपने लेख में संजय गुप्त एयर स्ट्राइक सहित समसामयिक घटनाक्रम का आम चुनाव पर व्यापक प्रभाव पड़ने का अंदेशा जताया है। यह सत्य है कि कुछ मत प्रतिशत इससे बदलें, पर वास्तविकता तो यही है कि जब भी चुनावी बयार बहनी शुरू हो जाती है तो लोग जाति-मजहब-क्षेत्र के रंग में रंगना शुरू हो जाते हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो भारतीय राजनीति में सैन्य कार्रवाइयों का चुनावों पर निर्णायक प्रभाव नहीं पड़ा है। इस बार उत्तर प्रदेश में बसपा-सपा का साथ आना मोदी की राह में बड़ी बाधा है एवं सीटों का भारी नुकसान तय लग रहा है, पर भाजपा पश्चिम बंगाल एवं ओडिशा में इस नुकसान की भरपाई की कोशिश में लगी है। बेशक अपनी बेमिसाल कूटनीति एवं रक्षा नीति के कारण मोदी की लोकप्रियता बढ़ी है तथा विकास के विभिन्न कार्य काफी प्रभावित करने वाले हुए हैं। फिर भी राज्यों में स्थानीय भाजपा नेतृत्व के उत्साह में विभिन्न कारणों से आई कमी, प्रशासनिक ढिलाई एवं सांसदों द्वारा निगरानी के अभाव के कारण मोदी सरकार की कई योजनाओं का धरातल पर सही ढंग से नहीं उतर पाना, मतदाता जागरूकता का अभाव, क्षेत्रीय दलों द्वारा उनके प्रभाव वाले राज्यों में चुनावी मुद्दा बदलने एवं उसे जातिगत मोड़ देने के प्रयास आदि आगामी लोकसभा चुनाव में मोदी सरकार के समक्ष जमीनी चुनौतियां हैं।

अजीत उपाध्याय, बक्सर, बिहार

महिलाओं के प्रति बदलें सोच

देश में महिलाओं के प्रति गांव के गरीबों की सोच भले ही न बदली हो, लेकिन बदलती शहरी हवा ने महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने और खुली हवा में सांस लेने का पूरा मौका दिया है। हां, इतना जरूर मानना पड़ेगा कि सोशल मीडिया पर महिलाओं को आज भी अपनी पहचान छुपाकर अपने भावों, विचारों और तस्वीरों को प्रदर्शित करना पड़ता है। यह कहना कि मात्र कानूनी अधिकारों के जरिए महिलाओं को बराबरी और समाज में सम्मान का हक मिल सकता है तो यह महिलाओं के साथ धोखा होगा। यदि वाकई समाज और सरकार महिलाओं के प्रति चिंतित हैं तो इन्हें कानून के साथ महिलाओं के प्रति अपने दृष्टिकोण में भी बदलाव लाने होंगे।

pintusa665@gmail.com

पत्रकारिता की स्वतंत्रता

दुनिया भर में पत्रकारिता की आजादी को लेकर हमेशा से बहस चली आ रही है। खासकर लोकतांत्रिक देशों में पत्रकारिता की स्वतंत्रता को ही असली आजादी कहा जाता है। पत्रकारिता आम जन की आवाज है, लेकिन इसे कुचलने की कोशिश भी की जाती है। कभी कुछ सरकारों की तरफ से तो कभी आपराधिक तत्व अपने मनमुताबिक खबर न पाकर दबाव बनाने की कोशिश करते हैं। निष्पक्ष पत्रकारिता के लिए यह ठीक नहीं है।

भावना पाल, दिल्ली विवि

इस स्तंभ में किसी भी विषय पर राय व्यक्त करने अथवा दैनिक जागरण के राष्ट्रीय संस्करण पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए पाठकगण सादर आमंत्रित हैं। आप हमें पत्र भेजने के साथ ई-मेल भी कर सकते हैं।

अपने पत्र इस पते पर भेजें :
दैनिक जागरण, राष्ट्रीय संस्करण,
डी-210-211, सेक्टर-63, नोएडा
ई-मेल: mailbox@jagran.com

संस्थापक-स्व. पूर्णचन्द्र गुप्त. पूर्व प्रधान संपादक-स्व.नरेन्द्र मोहन. संपादकीय निदेशक-महेन्द्र मोहन गुप्त. प्रधान संपादक-संजय गुप्त, जागरण प्रकाशन लि. के लिए: नीतेन्द्र श्रीवास्तव द्वारा 501, आई.एन.एस. बिल्डिंग,रफी मार्ग, नई दिल्ली से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा डी-210, 211, सेक्टर-63 नोएडा से मुद्रित, संपादक (राष्ट्रीय संस्करण) -विष्णु प्रकाश त्रिपाठी*
दूरभाष : नई दिल्ली कार्यालय : 23359961-62, नोएडा कार्यालय : 0120-3915800, E-mail: delhi@nda.jagran.com, R.N.I. No. DELHIN/2017/74721 * इस अंक में प्रकाशित समस्त समाचारों के चयन एवं संपादन हेतु पी.आर.बी. एक्ट के अंतर्गत उत्तरदायी। समस्त विवाद दिल्ली न्यायालय के अधीन ही होंगे। हवाई शुल्क अतिरिक्त।

प्रवाह
निर्भीक पत्रकारिता का आठवां दशक
स्थापना वर्ष : 1948

राष्ट्रीय आय से ही किसी राष्ट्र के कल्याण का अनुमान लगाया जा सकता है...
- साइमन कुज्नेट्स

अमेरिकी अर्थशास्त्री

चुनाव आयोग ने लोकसभा चुनाव की तारीखों का एलान तो कर ही दिया है, ईवीएम की सुरक्षा से लेकर वीवीपैट की व्यवस्था और सोशल मीडिया पर किए जाने वाले प्रचारों पर नजर रखने की उसकी घोषणाएं भी आश्वस्त करती हैं।

चुनाव का बजा बिगुल

चुनाव आयोग द्वारा लोकसभा चुनाव की तारीखों का एलान करने के साथ ही देश अब उस चुनाव की दहलीज पर खड़ा है, जो केंद्र की अगली सरकार के अलावा राजनीति की भी दिशा तय करेगा। सात चरणों में होने वाला यह चुनाव आगामी 11 अप्रैल से 19 मई तक चलेगा, और 23 मई को नतीजे आएंगे। लोकसभा चुनाव के साथ चार राज्यों-आंध्र प्रदेश, सिक्किम, ओडिशा और अरुणाचल प्रदेश में विधानसभा चुनाव भी होंगे, जबकि जम्मू-कश्मीर में विधानसभा चुनाव बाद में होगा। अलबत्ता सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश के साथ-साथ बिहार और पश्चिम बंगाल में भी सात चरणों में मतदान करवाना थोड़ा अटपटा ही लगता है। पिछले कुछ समय से विपक्षी दलों ने ईवीएम मशीनों की विश्वसनीयता को लेकर जो सवाल उठाए थे, उसे देखते हुए ईवीएम मशीनों की सुरक्षा की खास व्यवस्था का भरोसा दिलाने के अलावा प्रत्येक बूथ पर वीवीपैट की व्यवस्था करने की चुनाव आयोग की घोषणा स्वागतयोग्य है। यानी हर मतदाता को मतदान के बाद पर्ची मिलेगी। आयोग ने चुनावी खर्च पर नजर रखने की बात कहते हुए सोशल मीडिया पर प्रचार का खर्च भी चुनावी खर्च में जोड़ने की बात कही है। यानी सोशल मीडिया पर राजनीतिक विज्ञापनों की जानकारी रखी जाएगी। इस चुनाव में नब्बे करोड़ मतदाता वोट डालेंगे, जिनमें अट्ठारह से उन्नीस साल के युवा मतदाताओं की संख्या डेढ़ करोड़ है। तीन दशकों में पहली बार पूर्ण बहुमत हासिल करने वाली भाजपा के लिए अगर इस चुनाव में अपना प्रदर्शन बरकरार रखने की परीक्षा होगी, तो मुख्य विपक्षी पार्टी कांग्रेस के लिए अपने पिछले बदतर प्रदर्शन से उबरकर बेहतर करने की उससे भी बड़ी चुनौती होगी। पुलवामा हमले के जवाब में हवाई हमले और वैश्विक परिदृश्य में पाकिस्तान को अलग-थलग करने के बाद सत्ताधारी भाजपा ने राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्रवाद को चुनाव में केंद्रीय मुद्दा बनाने की बात स्पष्ट कर दी है। हालांकि चुनाव आयोग ने एक दिन पहले ही राजनीतिक पार्टियों को अपने पोस्टरों में सेना का इस्तेमाल करने से मना कर अर्थपूर्ण संदेश दिया है। इसके बावजूद कांग्रेस समेत समूचे विपक्ष को यह सोचना है कि बालाकोट में हवाई हमले के बाद सत्तारूढ़ भाजपा के पक्ष में जो माहौल बना दिखता है, वह इसके बरक्स बेरोजगारी और कृषि क्षेत्र की दुर्दशा को मुद्दा बनाने में सफल हो पाता है या नहीं।

कर्ज के बजाय आर्थिक मदद

किसानों को सालाना छह हजार रुपये की छोटी मदद आर्थिक सोच में बड़े बदलाव का सुबूत है। पर खेती जिस तरह घाटे का सौदा होती गई है, उसे देखते हुए भारी निवेश की आवश्यकता है।

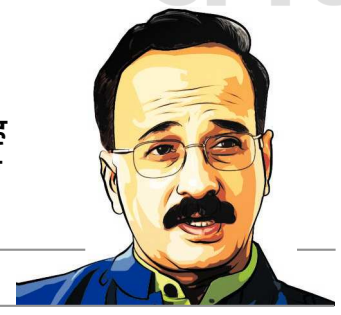

देविंदर शर्मा, कृषि नीति विशेषज्ञ

जब रूप सिंह और उनके छोटे भाई बसंत सिंह अपने पिता की अंत्येष्टि करके लौटे, तो उन्हें यह पता नहीं था कि नियति ने उनके लिए भी यही रास्ता तय कर रखा है। उनके पिता अवतार सिंह ने कर्ज के बढ़ते बोझ के कारण खुदकुशी कर ली थी। और पिता के अंतिम संस्कार के एक दशक बाद इन दोनों भाइयों ने भी वही घातक कदम उठाया। खेती की बढ़ती ऋणग्रस्तता ने परिवार की दो पीढ़ियों को लील लिया। दोनों भाई 2.5 एकड़ जमीन के मालिक थे और 30 एकड़ अन्य जमीन पर वे अनुबंध खेती करते थे। यह अकेला मामला नहीं है, लेकिन बताता है कि किस तरह से खेती को लगातार नुकसान पहुंच रहा है, जिसने दशकों से बहुतेरे किसानों की जान ली है। पंजाब के खेतों में मौत का तांडव लगातार जारी है। किसान संघों का कहना है कि कांग्रेस सरकार द्वारा कर्जमाफी की घोषणा के बावजूद एक वर्ष में 430 से ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की है।

इसलिए हाल ही में जारी एक रिपोर्ट हैरान नहीं करती कि कृषि आय 15 वर्षों में सबसे निचले स्तर पर है। द सेंटर फॉर मॉनिटरिंग ऑफ इंडियन इकोनॉमी (सीएमआईई) ने भी भविष्यवाणी की कि वर्ष 2018-19 में कृषि आय नकारात्मक होगी। यह एक तरह से नीति आयोग के निष्कर्षों का विस्तार है, जिसने वर्ष 2011-12 से 2015-16 के बीच पांच वर्षों की अवधि के वास्तविक कृषि आय पर अध्ययन कर बताया था कि प्रति वर्ष कृषि आय आधी फीसदी (0.44 फीसदी) रही।

इस तरह के निराशाजनक परिदृश्य को देखकर मुझे हैरानी होती है कि किस तरह से कृषक समुदाय साल-दर-साल जीवित रहता है। किसानों की आत्महत्या अतिरिक्त नुकसान तो है ही, लेकिन उन लोगों के बारे में क्या कहा जाए, जो हार नहीं मानते और सारी बाधाओं के खिलाफ संघर्ष जारी रखते हैं? खासकर तब, जब आम तौर पर माना जाता है कि लगभग चार दशकों में कृषि की वास्तविक आय में गिरावट आई है। आर्थिक सहयोग संगठन (ओईसीडी) के हालिया अध्ययन के मुताबिक, 2000 से 2017 के बीच उपज का कम मूल्य दिए जाने के कारण किसानों को अनुमानतः 45 लाख करोड़ रुपये का नुकसान हुआ है। अंकटाड द्वारा किए गए एक अन्य अध्ययन ने पहले अनुमान लगाया था कि फसल की कीमत को मुद्रास्फीति से समायोजित करने की कोशिश का नतीजा यह हुआ कि दुनिया भर में फसल की कीमत 1985 और 2005 के बीच 20 साल की अवधि में लगभग स्थिर रही। जाहिर है कि खाद्य मुद्रास्फीति को नियंत्रण में रखने के लिए सरकारों ने किसानों को निरंतर उनकी वाजिब आमदनी से वंचित रखा है। खाद्य कीमत कम रखने का पूरा बोझ किसानों पर डाल दिया गया। यानी उपभोक्ताओं को सब्सिडी देने की पूरी लागत किसानों ने वहन की है। किसानों को जान-बूझकर कम भुगतान किया जा रहा है, ताकि उद्योगों को सस्ते में कच्चा माल उपलब्ध कराया जा सके। इस तरह से किसानों की मात्र दो भूमिका है- उपभोक्ताओं को सस्ता खाद्य उपलब्ध करवाना और उद्योगों को सस्ता कच्चा माल उपलब्ध करवाना। कर्ज में पैदा होना और जीवन भर कर्ज में डूबे रहना नर्क में रहने जैसा है। जबकि हर साल कहा जाता है कि सरकार ने किसानों के लिए ऋण सीमा बढ़ाई है। जैसे-जैसे कर्ज बढ़ता जाता है, संकट बढ़ता जाता है, पर मैंने कभी अर्थशास्त्रियों और नीति निर्माताओं को किसानों को उचित आय देने की बात करते नहीं देखा।

हिंदी प्रदेशों में प्रतिकूल चुनाव परिणाम के बाद सरकार ने पहली बार छोटे किसानों को वार्षिक छह हजार रुपये की प्रत्यक्ष आय सहायता देने के कार्यक्रम की शुरुआत की है। यह अल्प राशि आर्थिक सोच में महत्वपूर्ण बदलाव का सूचक है- यानी कर्ज से आय समर्थन की ओर।

लेकिन जो बात बहुत कम समझ में आती है, वह यह कि कृषि आय में गिरावट उस आर्थिक मॉडल का परिणाम है, जिसका हम पालन करते हैं। आर्थिक सुधारों को जीवित रखने के लिए कृषि को जान-बूझकर दरिद्र बना दिया गया है। इसी त्रुटिपूर्ण आर्थिक सोच के साथ आगे बढ़ते हुए मुख्य आर्थिक सलाहकार ने उद्योग में और अधिक निवेश करने का आह्वान किया है, ताकि युवाओं को ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में लाया जा सके। यह ठीक वही काम है, जो करने का 1996 में विश्व बैंक ने भारत को निर्देश दिया था। यह मुख्य रूप से इस कारण से है कि 2011 और 2017 के बीच कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश जीडीपी के 0.3 से 0.5 प्रतिशत के बीच बना हुआ है। सार्वजनिक और निजी, दोनों तरह के कुल निवेश में भी लगातार गिरावट दर्ज की जा रही है-2011-12 में निवेश जीडीपी का 3.1 प्रतिशत था, जो घटकर 2016-17 में 2.2 प्रतिशत रह गया। अब इसकी तुलना उद्योगों को दी जा रही रियायतों से करें, जो जीडीपी के पांच फीसदी के बराबर है। इसलिए कृषि को मारने का सबसे अच्छा तरीका इस क्षेत्र में सार्वजनिक निवेश में भारी कटौती करना है, जो देश की आबादी को 52 प्रतिशत रोजगार देता है।

सीएमआईई की गणना के अनुसार, हैरानी की बात नहीं कि पिछले बारह महीनों में 56.6 लाख रोजगार का नुकसान हुआ है, उसमें से 82 फीसदी या 46 लाख रोजगार का नुकसान ग्रामीण क्षेत्रों में हुआ है। यह उस आर्थिक नीति का नतीजा है, जो ग्रामीण बेरोजगार युवाओं को शहरों में धकेलना चाहता है, जिसे दिहाड़ी मजदूरों की जरूरत है। इस नीति पर गंभीरता से पुनर्विचार करने की जरूरत है। खेतों में घटता स्वामित्व कोई समस्या नहीं है, बल्कि किसानों को उनकी उपज का सही मूल्य न मिलना बड़ी समस्या पैदा करता है।

कृषि की जान-बूझकर उपेक्षा ने खेती को अलाभकर और पर्यावरणीय रूप से अस्थिर बना दिया है। जिस बात पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है, वह यह कि भूख, गरीबी, युवाओं की बेरोजगारी, जबरन विस्थापन और जलवायु परिवर्तन, जिनसे भारत जूझ रहा है, उसका दीर्घकालीन समाधान ग्रामीण क्षेत्रों में निवेश ही है। इन तमाम समस्याओं की गहरी जड़ें ग्रामीण क्षेत्रों में हैं। चूंकि कृषि प्रधान ग्रामीण व्यवसाय है, इसलिए किसी भी समझदार आर्थिक नीति का जोर कृषि को एक आर्थिक गतिविधि के रूप में मानने से शुरू होता है। अकेले इसमें लाखों आजीविका को बनाए रखने की क्षमता है और इस तरह से यह अर्थव्यवस्था को फिर से मजबूत बना सकता है।

अंतर्ध्वनि

>> अज्ञेय

पथ-भ्रष्ट होना कुछ नहीं होता, अगर लक्ष्य-भ्रष्ट न हुए

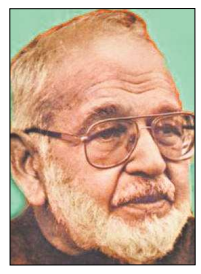

सर्जन एक यंत्रणा भरी प्रक्रिया है। 'भोगने वाले व्यक्ति' और 'रचने वाली मनीषा' के अलगाव की पुरानी चर्चा में जब कहा गया था कि दोनों के बीच एक दूरी है और जितना बड़ा कलाकार होगा उतनी अधिक दूरी होगी, तब यह नहीं स्पष्ट किया गया था कि दूरी लाने की यह प्रक्रिया भी (और वही तो सर्जन-प्रक्रिया है!) कष्टमय है। न यही बताया गया था कि बड़ी दूरी ही आवश्यक है या कि जो भोगा गया उसका भी बड़ा होना आवश्यक है? दूसरे शब्दों में क्या भावों से उन्मोचन ही महत्वपूर्ण है, या कि इसका भी कुछ मूल्य है कि वे भाव कितने प्रबल थे? जो साहित्य या काव्य अपने समय की चिंताओं को, संदेहों को व्यक्त करता है, मूल्यों का संकट पहचान कर उन नए मूल्यों को पाने को छटपटाता है, जो इस संकट के पार बचे रह सकते हैं, वही आज का साहित्य है। अकेले बैठना, चुप बैठना—इस प्रश्न की चिंता से मुक्त होकर बैठना कि 'क्या सोच रहे हो?'—यह भी एक सुख है। सोचने से ही सब कुछ नहीं होता—न सोचते हुए मन को चुपचाप खुला छोड़ देने से भी कुछ होता है—वह भी सृजन का पक्ष है। अभिनंदन उस सलीब का होता है, जो प्रतीक बन चुका है। और प्रतीक की ढुलाई करने वाला बस उतना ही है—यानी प्रतीक की ढुलाई करने वाला। यह बिल्कुल 'डिस्पेंसेबल' है—उसकी जगह कोई दूसरा ले सकता है। किसी को ठीक-ठीक पहचानना है, तो उसे दूसरों की बुराई करते सुनो। कोई भी मार्ग छोड़ा जा सकता है, बदला जा सकता है : पथ-भ्रष्ट होना कुछ नहीं होता, अगर लक्ष्य-भ्रष्ट न हुए। साहित्य तुम्हारी संवेदना की परतें उधेड़ता है, जिससे तुम्हारा जीना अधिक जीवंत होता है और यह सहारा साहित्य दे सकता है; उससे अलग साहित्यकार व्यक्ति नहीं। तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी मुक्ति है, किसी दूसरे के देने से वह नहीं मिलेगी।

-दिवंगत हिंदी साहित्यकार

मंजिलें और भी हैं

>> विजय येलमाले

नौकरी छोड़ नई किस्म की खेती शुरू की

मैं महाराष्ट्र का रहने वाला हूं और छह साल पहले तक सिंगापुर में अच्छी-भली नौकरी कर रहा था। लेकिन बार-बार अपने राज्य में किसानों की आत्महत्याओं की खबरें पढ़कर मैं भावुक हो जाता था। मुझे पता था कि पारंपरिक तरीके की खेती में मुनाफा न मिलने के कारण ही किसान अपनी जान दे रहे हैं। मैं सोचता था कि किसानों के लिए मुझे कुछ करना चाहिए। आखिरकार 2013 में मैंने नौकरी छोड़ दी और भारत लौट आया। मेरा लक्ष्य लघु और सीमांत किसानों के हित में काम करना था। वैकल्पिक खेती की शुरुआत मैंने नवी मुंबई में अपने फ्लैट की छत पर की। यहां मैंने हाइड्रोपॉनिक यूनिट की शुरुआत की। यह ऐसी खेती है, जिसमें मिट्टी का उपयोग नहीं होता। इसमें पीवीसी पाइप को क्षैतिज ढंग से प्लांटर के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है और पौधे सिंथेटिक पोषक तत्वों से पोषण प्राप्त करते हैं। हालांकि सिंथेटिक पोषक का इस्तेमाल वैज्ञानिक तरीके से करना पड़ता है। जाहिर है, बिना प्रशिक्षण के इस तरह की खेती संभव नहीं है।

पारंपरिक खेती के बजाय मैंने हाइड्रोपॉनिक खेती शुरू की, जिसमें मिट्टी की जरूरत नहीं होती।

पारंपरिक खेती की तुलना में इसमें पानी का इस्तेमाल नब्बे फीसदी कम होता है और इसमें फसल काफी तेजी से बढ़ती है तथा वह खराब भी नहीं होती। लेकिन चूंकि इस किस्म की खेती महंगी होती है, इसलिए लघु और सीमांत किसानों के लिए यह कठिन है। लेकिन चूंकि मैं छोटे किसानों की बेहतरी के लिए भारत लौटा था, लिहाजा मैंने इस खेती को उनके अनुकूल बनाने के बारे में सोचना शुरू किया। इसी के तहत मैंने रूरल आइडिया नाम से एक संस्था की शुरुआत की। हाइड्रोपॉनिक यूनिट का लाभ दिखने लगा था। करीब 150 स्कॉवयर फुट जगह पर मैं सालाना 1.2 टन पत्तेदार सब्जियां उगा रहा था। इसकी सफलता से उत्साहित होकर मैंने रायगढ़ में पंद्रह एकड़ जमीन खरीद ली। वहां सोलह लाख रुपये में मैंने दो एक्वापॉनिक यूनिट गठित की। यह एक्वाकल्चर (एक्वेरियम) और हाइड्रोपॉनिक्स का मिला-जुला रूप है, जिसमें एक केंद्रीकृत व्यवस्था में खेती और मछली पालन, दोनों किया जाता है। एक्वापॉनिक्स तुलनात्मक रूप से ज्यादा जैविक व्यवस्था है, जिसकी मॉनिटरिंग की कम जरूरत पड़ती है। इसमें मछलियों का मल जहां पौधों के लिए पोषण की जरूरत पूरी करता है, वहीं पौधे मछलियों के लिए पानी को निरंतर साफ करने का काम करते हैं। रायगढ़ की इन दो यूनिटों में सालाना चार टन मछलियां और दस टन सब्जियां पैदा होती हैं। मिट्टी और पानी के बेहद प्रदूषित हो जाने के इस दौर में इस तरह की खेती के महत्व को समझा जा सकता है। नए जमाने की इस खेती में श्रम की जरूरत नहीं पड़ती और इसके लिए जगह की भी बहुत कम आवश्यकता पड़ती है। बेसमेंट या छत कहीं भी खेती का यह एक्वापॉनिक तरीका अपनाया जा सकता है। चूंकि इन दोनों ही तरह की खेती में जमीन की जरूरत नहीं है, इसलिए कस्बों और शहरों में व्यक्तिगत तौर पर या स्टार्ट अप के रूप में इसे अपनाया जा सकता है। मैंने दोनों जगह किसानों और युवाओं को प्रशिक्षित करने का काम भी शुरू किया है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद और भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, दोनों ने रूरल आइडिया को सराहा है। मेरा मानना यह है कि खेती को घाटे का सौदा बताते रहने के बजाय पारंपरिक तरीके से अलग हटकर इस किस्म की खेती करना फायदेमंद हो सकता है, जिसमें मिट्टी, पानी और श्रम की जरूरत नहीं पड़ती, जबकि उत्पाद भी प्रदूषण और कीटनाशक मुक्त होते हैं।

-विभिन्न साक्षात्कारों पर आधारित।

विपक्ष की गैरजिम्मेदारी

जब सीमा पर रोज फायरिंग हो रही है, जब पाकिस्तान स्वीकार करने को तैयार ही नहीं है कि जैश-ए-मोहम्मद उसकी भूमि से हमले कर रहा है, तब क्या हर राजनेता का कर्तव्य यह नहीं बनता कि वह ऐसा वक्तव्य न दे, जो देश को कमजोर करता हो?

तवलीन सिंह

पाकिस्तान के साथ युद्ध जैसी स्थिति बनी हुई है, लेकिन देश के अंदर हमारे विपक्षी नेता गृहयुद्ध पर विराम लगाने को तैयार नहीं हैं। पाकिस्तान से जवाब मांगने के बदले नरेंद्र मोदी से जवाब मांग रहे हैं। ये कैसे राजनेता हैं, जो देश के हित से ऊपर अपने राजनीतिक हित रखते हैं? क्या यह समय गलत बयान देकर पाकिस्तान का साथ देने का है? क्या यह समय हमारे वीर जवानों का मनोबल कमजोर करने का है? एक फौजी अफसर की बेटी होने के नाते विपक्ष के राजनेताओं के बयान सुनकर मुझे निजी तौर पर दुख हुआ। ऐसा इसलिए कि मैं जानती हूं कि हमारी सेना और पाकिस्तान की सेना में सबसे बड़ा अंतर यही है कि हम अपने सेनाध्यक्ष के वक्तव्यों पर पूरा विश्वास कर सकते हैं, क्योंकि उनके बयानों में राजनीति की बू तक नहीं है। सो पिछले सप्ताह वायुसेना अध्यक्ष ने जब स्पष्ट किया कि बालाकोट में उनके बम निशाने पर गिरे, तो उनके इस बयान पर हम सबको पूरा विश्वास होना चाहिए।

सो तब बहुत बुरा लगा, जब विपक्ष के वरिष्ठ राजनेताओं ने फिर भी अपने प्रश्नों का सिलसिला एक क्षण के लिए भी बंद नहीं किया। पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ने सुबूत मांगा और कांग्रेस अध्यक्ष ने तो मोदी पर एफआईआर दर्ज करने की मांग की। राफेल सौदे को लेकर राहुल गांधी के बयान इतने बचकाने रहे हैं कि वह कहते आए हैं कि इस सौदे का आधा हिस्सा यानी तीस हजार करोड़ रुपये प्रधानमंत्री ने 'चोरी करके' अनिल अंबानी को दे दिए हैं। क्या वह जानते नहीं हैं कि ऐसा करना संभव ही नहीं है? क्या वह जानते नहीं कि इतनी बड़ी रकम अनिल अंबानी को मिली होती, तो वह कंगाली के कगार पर खड़े नहीं होते? लेकिन राहुल गांधी यह मानकर चल रहे हैं कि किसी झूठ को बार-बार बोला जाए, तो वह सत्य में कभी न कभी परिवर्तित हो जाएगा।

माना कि आने वाले चुनाव में मोदी को हराना उनका मुख्य मकसद है। माना कि यह राजनीति है। लेकिन क्या यह ऐसी राजनीति करने का समय है? मोदी की निजी छवि इतनी साफ है कि इस देश का आम नागरिक मान ही नहीं सकता कि रक्षा सौदे में वह पैसा खा सकते हैं। सो हाल में हुए सर्वेक्षण बताते हैं कि सीमा पार अपने लड़ाकू विमानों की स्ट्राइक के बाद मोदी के चुनाव जीतने की संभावनाएं बढ़ गई हैं। लेकिन सवाल यह है कि क्या संकट की इस घड़ी में जब सीमा पर रोज फायरिंग हो रही है, जब पाकिस्तान स्वीकार करने को तैयार ही नहीं है कि जैश-ए-मोहम्मद नाम का जेहादी संगठन उसकी भूमि से भारत पर आतंकवादी हमले कर रहा है, तब क्या इस समय देश के हर राजनेता का कर्तव्य यह नहीं बनता कि वह ऐसा वक्तव्य न दे, जो देश को कमजोर करता हो?

प्रधानमंत्री ने ठीक ही कहा कि विपक्ष के नेताओं को मोदी से इतनी नफरत है कि वह उनको कलंकित करने के प्रयास में देश को कलंकित करने से भी अपने आपको नहीं रोक सकते हैं। इसका परिणाम यह है कि विदेशी मीडिया ने भी भारत की वायुसेना का मजाक उड़ाना शुरू कर दिया है। जो सवाल हमारे विपक्ष के राजनेता ऊंचे स्वरों में पूछ रहे हैं, अब वही सवाल विदेशी मीडिया में पूछे जा रहे हैं। कहा जा रहा है कि बालाकोट में हमारे बहादुर वायुसेना के जवानों का निशाना इतना खराब था कि उन्होंने कुछ पेड़-पौधों का नुकसान करने के सिवाय कुछ नहीं किया। सो यह कहना पड़ेगा कि अगर अब भी विपक्ष के राजनेता देश के प्रति अपना दायित्व निभाने के लिए तैयार नहीं हैं, तो उनको चुनाव हारना चाहिए।

खुली खिड़की

जीडीपी में विनिर्माण क्षेत्र का हिस्सा

किसी देश के सकल घरेलू उत्पाद में विनिर्माण क्षेत्र का भी हिस्सा होता है। आयरलैंड की जीडीपी में विनिर्माण क्षेत्र का हिस्सा 34.7 फीसदी है, जबकि हमारे देश की जीडीपी में विनिर्माण क्षेत्र का हिस्सा साढ़े सोलह फीसदी है।

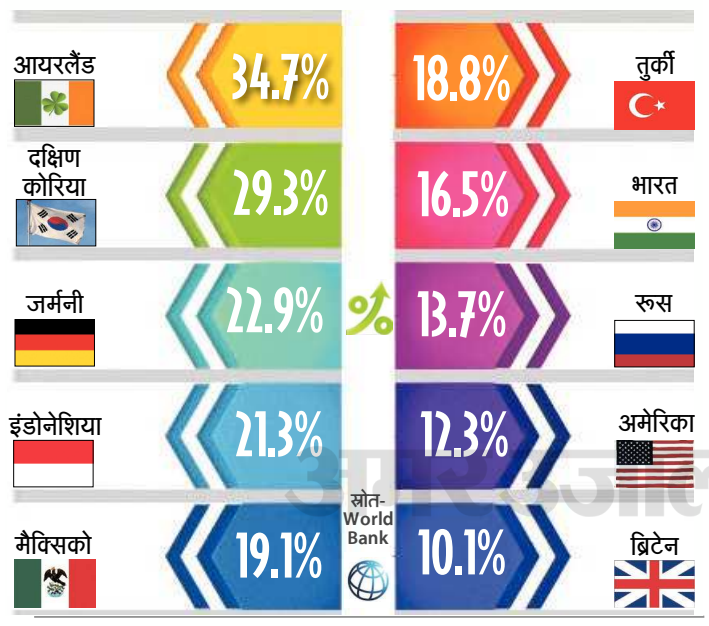

धर्म की रक्षा के लिए

कर्ण को युद्ध में मार गिराने के लिए अर्जुन पाशुपत अस्त्र प्राप्त करना चाहते थे। शिव को प्रसन्न करने के उद्देश्य से वह तपस्या में बैठ गए। अर्जुन के हवन कुंड की आग से आसपास का इलाका तपने लगा। तमाम ऋषि-मुनि घबराकर भगवान शिव के पास पहुंचे। शिव को सारी बात पता थी। उन्होंने अर्जुन की परीक्षा लेने की सोची। शिव ने किरात का और पार्वती ने किरात पत्नी का वेश बनाया और वहां पहुंचे। पर वे अर्जुन के पास पहुंचते, इससे पहले ही उन्होंने देखा कि एक राक्षस सूअर का रूप धर अर्जुन पर झपटने जा रहा है। शिव ने बाण चलाया। पर तपस्या में लीन अर्जुन ने सूअर की पदचाप सुन बाण छोड़ दिया था। दोनों के बाण एक साथ सूअर रूपी राक्षस को लगे। सूअर को मारने को लेकर किरात और अर्जुन में विवाद हो गया, जिसकी परिणति युद्ध में हुई। पर अर्जुन यह देख चकित हो गया कि उसकी तमाम कोशिशों के बावजूद किरात को एक खरोंच तक नहीं लगी थी। उसने शिव की मिट्टी की प्रतिमा की पूजा करते हुए कहा, ईश्वर, यह कैसा चमत्कार है। तभी उसने देखा कि शिव की प्रतिमा पर चढ़ाई माला किरात के गले में है। अर्जुन को अपनी भूल का एहसास हुआ। शिव ने कहा, मैं तुम्हारी वीरता और भक्ति से प्रसन्न हूं। उन्होंने अर्जुन को सिर्फ पाशुपत अस्त्र ही नहीं दिया, बल्कि उसे चलाने की विधि भी सिखाई और कहा, इसका प्रयोग सिर्फ धर्म की रक्षा के लिए ही करना।

सत्संग

-संकलित

हरियाली और रास्ता

रॉबिन, दादा जी और दौड़

रॉबिन की कहानी, जिसे उसके दादा जी ने जीत का सही मतलब समझाया।

रॉबिन के पिता मजदूर थे। एक दिन वह रॉबिन को शहर ले गए। दौड़ प्रतियोगिता में उन्हें मैदान साफ करने का काम मिला था। रॉबिन मैदान देखकर बहुत खुश हुआ। उस दिन से उसे भी दौड़ने का शौक चढ़ गया। घर लौटने पर रॉबिन ने पिता से कहा कि गांव में भी ऐसी प्रतियोगिता हो। उसके पिता ने प्रधान के सामने सुझाव रखा। कुछ ही दिनों में प्रतियोगिता की तैयारी शुरू हो गई। आसपास के गांवों से अनेक बच्चे भाग लेने के लिए आए। प्रतियोगिता कठिन थी, पर रॉबिन ने ठान लिया था कि उसे जीतना ही है। सीटी बजते ही सारे प्रतिभागी रेस लाइन की तरफ दौड़े। कड़क धूप और पथरीले रास्ते को पार कर रॉबिन ने रेस जीत ली। मैदान तालियों से गूंज उठा। पर रॉबिन का मन नहीं भरा था। कुछ ही दिनों में रॉबिन ने फिर पिता से रेस की जिद शुरू कर दी। अगली रेस में भी रॉबिन जीत गया। अब उसे दूसरों को हराने में मजा आने लगा। रॉबिन के दादा जी यह देख दुखी होते थे। एक दिन उन्होंने रॉबिन के लिए एक खास रेस का आयोजन किया। उन्होंने उससे कहा, बेटा, हर रेस में जीतने के तरीके अलग होते हैं। सोच-समझकर दौड़ना। रॉबिन को कुछ समझ में नहीं आया। इस प्रतियोगिता में उसके अलावा दो ही प्रतिभागी थे। सीटी बजते ही रॉबिन रेस लाइन की तरफ दौड़ा। लेकिन उसने देखा कि बाकी के दोनों प्रतिभागी अभी तक दौड़ना शुरू भी नहीं कर पाए थे। रॉबिन को पता चला कि उसके दोनों प्रतिद्वंद्वी निःशक्तजन थे। रॉबिन अपनी जगह पर वापस गया और दोनों प्रतिभागियों के हाथ पकड़कर, धीरे-धीरे उन्हें रेस लाइन तक साथ में लेकर आया। तीनों ने एक साथ रेस लाइन पार की। यह देख पूरा मैदान तालियों से गूंज उठा। दादाजी रॉबिन से बोले, आज मुझे यकीन हो गया है कि तुम असली विजेता हो।

जीवन की हर प्रतियोगिता में जीतना ही जरूरी नहीं होता।

बिज़नेस स्टैंडर्ड
वर्ष 12 अंक 20

नया अवसर, नई राह

भारतीय स्टेट बैंक ने अपनी जमा बचत दर और अल्पावधि के ऋण के मूल्य को रीपो दर से जोड़ने का निर्णय लिया है जो समझदारी भरा कदम है। इससे ब्याज दरों का जल्द पारेषण होने की गुंजाइश बनी है। लंबे समय से आरबीआई द्वारा अपनी अहम नीतिगत दरों में कटौती के बावजूद कर्जदारों को उसका लाभ नहीं मिल रहा था। इसका कारण यह है कि बैंक इस स्थिति में होते ही नहीं थे कि वे अपने जमा का मूल्य दोबारा तय कर सकें। अब तक बैंक ब्याज दर को अपने फंड की लागत से जोड़ते रहे हैं।

देश के सबसे बड़े बैंक ने स्वेच्छा से एक लाख रुपये से अधिक की जमा पर मिलने वाले ब्याज की दरों को रीपो दर से जोड़ दिया है जो अब 6.25 फीसदी है। आगामी मई से जमा बचत को रीपो दर से 2.75 फीसदी कम ब्याज मिलेगा। स्टेट बैंक के कुल जमा में ऐसे जमा का हिस्सा 33 फीसदी है जो काफी अहम है। प्रभावी तौर पर बैंक अब अपने जमा के इस हिस्से के लिए नमनशील दर पर निर्धारित करेंगे। ऋण क्षेत्र की बात करें तो कैश-क्रेडिट खाते और एक लाख रुपये से अधिक का ओवरड्राफ्ट भी रीपो दर से 2.25 फीसदी के दायरे में जोड़ा जाएगा। जमा और ऋण दोनों के लिए एक लाख रुपये की सीमा यह सुनिश्चित करने के लिए है छोटे बचतकर्ता और कर्जदारों को रीपो दर में घट-बढ़ से दिक्कत न हो।

अब यह लगभग तय हो गया है कि अन्य बड़े बैंक भी इसका अनुकरण करते हुए अपने ब्याज मार्जिन की अस्थिरता को कम करेंगे। परंतु इस दौरान देखना यह होगा कि म्युचुअल फंड और बीमा कंपनियां इस उपाय को लेकर किस प्रकार की प्रतिक्रिया देती हैं। हाल के दिनों में बैंकों के खुदरा जमा में पहले के समान तेजी से इजाफा नहीं हुआ है।

खासतौर पर नोटबंदी के बाद के दौर में आई एकबारगी तेजी के पश्चात ऐसा देखने को नहीं मिला है। पहले जो खुदरा जमाकर्ता थे उनका एक बड़ा तबका अब मकान और सोने जैसी वस्तुओं में निवेश करने में रुचि दिखा रहा है। यह तबका म्युचुअल फंड और कर बचत वाली बीमा योजनाओं में भी रुचि रखता है। यह एक बड़ी वजह है जिसके चलते गैर जमा उधारी पर बैंकों की निर्भरता वित्त वर्ष 2018 में 30 फीसदी तक बढ़ी है जबकि ऐन पिछले वर्ष यह 11 फीसदी थी।

चालू और बचत बैंक खाते अभी भी कुल जमा के 42 फीसदी के लिए उत्तरदायी हैं लेकिन यह देखना अभी बाकी है कि अब रीपो दर में कटौती होने पर उनके बड़े निवेशक किस प्रकार की प्रतिक्रिया देते हैं। बैंकों के जमा दर में कटौती करने के अनिच्छुक होने की एक अहम वजह यह भी है। फिर चाहे बात बचत की हो या खुदरा की। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इस कदम को ऐसे समय में कुछ जमाकर्ताओं के प्रतिरोध का सामना करना पड़ सकता है जबकि मुद्रास्फीति में कमी आ रही है। उनके मुताबिक ब्याज दरों में इजाफे तक इंतजार करना बेहतर होता क्योंकि तब ग्राहकों को इस ढांचे की आदत हो जाती।

परंतु एक के बाद एक आरबीआई के गवर्नर बैंकों द्वारा ब्याज दरों के कमजोर पारेषण की समस्या से जूझते रहे हैं। इससे पहले सारे प्रयासों में ऋण पक्ष को निशाना बनाया गया फिर चाहे बात आधार दर व्यवस्था की हो या सीमांत लागत आधारित ऋण दर की। दिक्कत यह थी कि इससे केवल नए कर्जदारों को लाभ होता और हठी जमा दर की समस्या पर कोई असर नहीं होता। स्टेट बैंक का यह कदम एक नई राह दिखाता है।

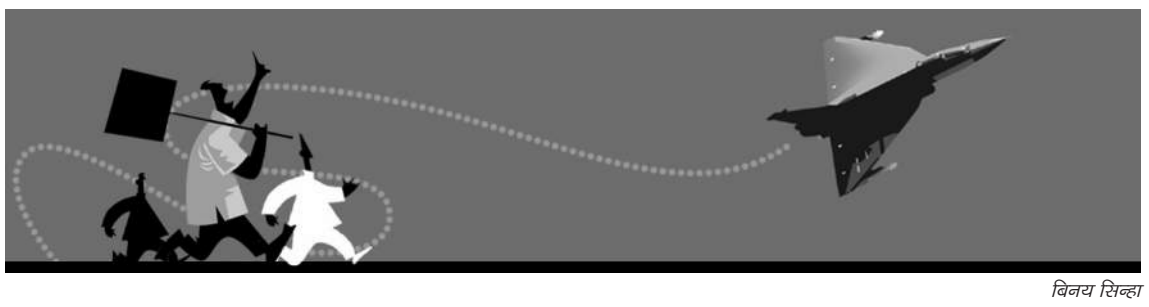

बिनय सिन्हा

पाकिस्तान के साथ शांति की लंबी राह

अगर भारत चाहता है कि पाकिस्तान को भयभीत करके शांति कायम की जाए तो उसे अपनी सेना में निवेश करना होगा और देशवासियों को यह समझाना होगा कि युद्ध दरअसल क्या होता है

राष्ट्र की बात

शेखर गुप्ता

कितने आदमी थे? यह सवाल सन 1975 में आई रमेश सिप्पी की फिल्म शोले में हिंदी सिनेमा के सबसे भयंकर लेकिन सबसे अधिक पसंद किए जाने वाले खलनायक गब्बर सिंह ने अपने उन आदमियों से पूछा था जो मार खाकर लौटे थे।

मैं इस बात का प्रयोग पिछले दिनों पाकिस्तान और भारत के बीच छिड़ी 90 घंटे की 'जंग' के संदर्भ में क्यों कर रहा हूं या कहें तो 27 फरवरी के बाद हमारे राजनीतिक-रणनीतिक विमर्श का चीजों का जिस तरह 'गब्बरीकरण' हो गया है, उस लिहाज से मुझे यही उपमा सही लगती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे समक्ष तीन ही सवाल बचे हैं: हमारे बम या मिसाइल जैश के ठिकाने को निशाना बना सके या नहीं? अगर उनका निशाना सही था तो क्या लोग मारे भी गए (कितने आदमी थे) तीसरा: क्या वायुसेना के विमान ने पाकिस्तान वायु सेना के एफ-16 विमान को मार गिराया? ये तीनों सवाल असली मुद्दे से कोसों दूर हैं। हमने दो सप्ताह पहले लिखा था कि बदला बुद्धिमानी भरी कार्रवाई नहीं है। बदला मूर्ख लेते हैं, समझदार व्यक्ति भयभीत करने, प्रतिरोध और प्रतिकार करने का सहारा लेते हैं। ये तीनों सवाल बदले की मानसिकता को दर्शाते हैं जो भारत जैसे विशाल, शक्तिशाली देश के लिए खेद की बात है। यही कारण है कि हम इसे 'गब्बरीकरण' कह रहे हैं।

तालियां बजाती भीड़ के सामने वाहवाही लूटते प्रधानमंत्री ने स्वयं वाहवाही लूट कर इसे बढ़ावा दिया है। उन्होंने कहा कि बदले के लिए ज्यादा प्रतीक्षा करना उनके स्वभाव में नहीं है। यह सामरिक प्रतिक्रिया का खतरनाक राजनीतिकरण है। सेना चाहती है कि वह शत्रु को चौंका सके। वह यह नहीं चाहती कि वह आसानी से उसके कदमों के बारे में अनुमान लगा ले।

दूसरी बात, यह इस बात की स्वीकारोक्ति भी हो सकती है कि आपको शायद नहीं लगता कि आप इतने ठोस कदम उठा सके हैं जो पाकिस्तान को रोक सकें। हो सकता है मैं इन बातों की समझ को लेकर अतिवादी हो रहा हूं लेकिन इससे आपके विकल्प सीमित होते हैं।

दूसरी ओर अगर प्रधानमंत्री को लगता है कि हालिया हमलों से प्रतिकार के लिए जरूरी प्रभाव उत्पन्न नहीं हुआ है तो भारतीय उपमहाद्वीप को एक नव सामान्य की तैयारी करनी होगी जो भारत के लिए सर्वश्रेष्ठ हालात से अलग होगा। आतंक-प्रतिकार-उकसावे और फिर कमी का चक्र नियंत्रण रेखा के इर्दगिर्द हो रहे खूनखराबे से थोड़ा अधिक है लेकिन उससे अलग नहीं। एकमात्र अंतर यह है कि छोटे हथियारों, मोर्टार, स्नाइपर राइफल और कमांडो चाकुओं के स्थान पर लड़ाकू विमानों और स्मार्ट हथियारों का इस्तेमाल किया जाएगा। यह बात सैन्य रुख रखने वालों और किशोरों के लिए उत्साह बढ़ाने वाली बात हो सकती है लेकिन बदकिस्मती से यह अगर पराजय नहीं तो भी रणनीतिक समझौता तो है। लेफ्टिनेंट जनरल एच एस पनाग (सेवानिवृत्त) ने भी अपने एक समझदारी भरे और साहसी लेख में यही बात कही है।

अब बात करते हैं सकारात्मक पहलुओं की। पंजाब (1981) और कश्मीर (1989) में पाकिस्तान नियंत्रित आतंकवाद की शुरुआत के बाद पहली बार भारत ने अपनी सहिष्णुता की एक रेखा तय की। अतीत में पुलवामा से भी अधिक बड़े उकसावों मसलन संसद पर हमला और 26/11 के हमलों का कोई प्रतिकार नहीं किया गया। भारत की प्रतिक्रिया के बारे में सबको अंदाजा हो चुका था और इसे लेकर एक तरह की ऊब उत्पन्न होने लगी थी। अब प्रत्यक्ष प्रतिकार ही तार्किक विकल्प था। बालाकोट से पाकिस्तान को तीन महत्त्वपूर्ण संदेश दिए गए:

■ सहिष्णुता की एक सीमा है, जिसे पार करने पर भारत पाकिस्तान की जमीन पर काफी अंदर तक जाकर मार करेगा, भले ही बात कितनी भी बढ़ जाए। उस दृष्टि से देखें तो पाकिस्तान की परमाणु शक्ति होने की धमकी बेमानी हो चुकी है। यह समाप्त नहीं हुआ है लेकिन पाकिस्तान का सामना अब एक नई हकीकत से है।

■ यह कि भारत के पास यह शक्ति है कि वह ऐसी जवाबी कार्रवाई कर सके और पूरी गोपनीयता बरत सके।

■ तीसरी बात, दुनिया की तमाम प्रमुख शक्तियां अब यह स्वीकार करती हैं कि भारत के पास विरोध करने का अधिकार है। इसके साथ ही भारत से यह अपेक्षा भी की जाती है कि वह जवाबदेही का परिचय देगा और ऐसे किसी चक्र में नहीं फंसेगा।

इस बार कुछ ऐसा ही हुआ है। परंतु हमें नकारात्मक पहलुओं का भी ध्यान रखना होगा। इसे भी तीन उदाहरणों से समझते हैं:

■ हमला, जवाबी हमला और भारतीय प्रतिक्रिया ने पारंपरिक लड़ाई में भारत और पाकिस्तान के बीच की असमानता को उजागर कर दिया। तकनीक, हथियारों और क्षमताओं की बात करें तो दोनों पक्ष लगभग बराबरी पर हैं। परंतु अगर तनातनी लंबी चली तो भारत का पलड़ा भारी है। संक्षेप में भारत को पाकिस्तान पर बढ़त हासिल है लेकिन पाकिस्तान को दंडित करने की क्षमता उसके पास नहीं है।

■ ऐसे तेजी से विकसित होते हालात से निपटने के लिए सुदृढ़ संचार योजना की आवश्यकता है। इसे अपने लोगों, मीडिया और शेष विश्व के साथ तैयार करना होगा। मोदी सरकार इस मोर्चे पर नाकाम है।

■ कंधार विमान अपहरण कांड के बाद एक बार फिर भारतीय जनमानस कमजोर कड़ी साबित हुआ। यह वही जनता है जो पाकिस्तान के खिलाफ निर्णायक आर-पार की लड़ाई की मांग कर रही थी, उसने एक युद्धबंदी के पाकिस्तान की कैद में जाने के बाद ही अपना धैर्य गंवा दिया। पाकिस्तान को खत्म करने की मांग रातोरात अभिनंदन को वापस लाने की मांग में बदल गई। भारतीय जनता शायद यह भूल गई कि असल लड़ाई में दोनों पक्षों का नुकसान होता है।

संक्षेप में कहें तो इस संकट ने भारत को सिखाया कि यदि उसे आतंकवाद को लेकर पाकिस्तान के खिलाफ एक नया, कम सहनशील और दंडात्मक रुख अपनाना है तो सैन्य और मानसिक तैयारी के लिए काफी कुछ करना होगा। देश के नेताओं को सैन्य क्षमता बढ़ाने के लिए निवेश करना होगा। इसके अलावा मानसिकता में भी बदलाव लाना होगा। पिछले दिनों जो कुछ हुआ वह एक दो बार और चल सकता है क्योंकि पाकिस्तान का आचरण आसानी से सुधरने वाला नहीं है। फिर पाकिस्तान और अंतरराष्ट्रीय समुदाय दोनों इसके आदी हो जाएंगे। मैं हमला करूं, आप जवाबी हमला करें और फिर अपने-अपने देश में जनता के बीच जीत की घोषणा करेंगे। जनता को अपनी सेना पर इतना भरोसा है कि उसकी बातों को कभी झूठ नहीं मानेगी।

हमें पहले देश की जनता को यह समझाना होगा युद्ध क्या है। अमेरिकी ड्रोन और हवाई हमलों के फुटेज देखते हुए कई लोगों की मति भ्रष्ट हो गई है। फिल्में जोश जगाती हैं लेकिन इन्हें इतने मूर्खतापूर्ण ढंग से बनाया जाता है मानो वे 'विजय जासूस' जैसी कहानियों से प्रेरित हों। या फिर उनमें उड़ी फिल्म के 'गरुड़' जैसे गैजेट दिखाए जाते हैं। असल जिंदगी में जंग खिलौनों की किसी दुकान से गुजरने जैसी नहीं होती।

अगर आपके सैनिक सनी देओल और विकी कौशल हैं तो पाकिस्तानी भी जॉनी वाकर नहीं हैं। उनके पास भी लड़ाकू जवान हैं, वे भी इसी मिट्टी की संतान हैं। देश के सैनिक पाकिस्तानी जवानों को कभी हल्के में नहीं लेते। यही वजह है कि वे असल लड़ाई में हारते नहीं। नेताओं को यह बात जनता के दिमाग में भी डालनी होगी। परंतु अगर वे अपनी राजनीति के लिए सेना का इस्तेमाल करते रहेंगे तो यह सही नहीं होगा।

आखिरकार, समझाने-बुझाने और प्रतिकार की नीति ही सबसे बेहतर है। परंतु इसके लिए हमें ऐसी क्षमता विकसित करनी होगी कि पाकिस्तान जवाब न दे। अगर ऐसा नहीं हुआ तो दोनों देश एक दूसरे को भयभीत करते रहेंगे। इसकी आर्थिक कीमत दोनों देशों को चुकानी होगी।

एक तरीका यह है कि हम अपने रक्षा बजट को जीडीपी के 2 फीसदी के तयशुदा स्तर पर कर दें। ऐसा करने से हमारे मौजूदा रक्षा बजट में 25 फीसदी इजाफा होगा। सैन्य बलों में सुधार की जरूरत है। जनरल विपिन रावत के पास सेना के लिए एक जबरदस्त योजना है। उदाहरण के लिए सेना को पारंपरिक युद्ध और निर्णायक प्रतिकार के लिए तैयार करना। पाकिस्तान को इसके लिए होड़ करने की चुनौती दी जा सकती है। वह या तो शांत हो जाएगा या इस होड़ में पड़कर गरीबी को न्योता देगा। शायद जब वह अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की 1,200 करोड़ डॉलर की सहायता चुकता करेगा तब इन चीजों पर विचार करेगा। याद रहे, सबसे अच्छी सेना वह होती है जो इतनी ताकतवर हो कि आपको उसका इस्तेमाल ही न करना पड़े। भारत ऐसा कर सकता है।

नारेबाजी से व्यवस्था सृजन तक का सफर है कठिन

जिंदगीनामा

कनिका दत्ता

सरकारी नियंत्रण वाली विमानन कंपनी एयर इंडिया का घाटा 50,000 करोड़ रुपये से अधिक हो चुका है और उस पर कर्ज भी बढ़कर 48,000 करोड़ रुपये से आगे जा चुका है। इसकी वित्तीय स्थिति इतनी खतरनाक हो चुकी है कि पिछले साल बिक्री के लिए रखे जाने पर भी कोई निजी खरीदार 76 फीसदी हिस्सेदारी खरीदने के लिए आगे नहीं आया।

ऐसी स्थिति में कोई भी यही सोचेगा कि इस अति-प्रतिस्पर्द्धी बाजार में बने रहने के लिए इस कंपनी को लागत में अधिक-से-अधिक कटौती पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। लेकिन लगता है कि इसके मालिक और प्रबंधन की चिंता कुछ और ही है। उसे यह फिक्र है कि उसके कर्मचारी एक खास तरह से देशभक्ति का प्रदर्शन करें।

गत 5 मार्च को परिचालन निदेशक की तरफ से जारी परामर्श में कहा गया है कि 'तत्काल प्रभाव से स्टाफ को हरेक उद्घोषणा के थोड़े अंतराल के बाद पूरे जोश से जय हिंद कहना होगा'। अधिकारियों ने एयरलाइन की तरफ से जारी इस परामर्श को देश के मौजूदा मिजाज के मुताबिक बताया है। ऐसे में अचरज नहीं है कि इसे लेकर सोशल मीडिया पर चुटकुलों की बाढ़ आ गई। मसलन, सफर के दौरान बीच आसमान में कोई समस्या होने पर कैबिन क्रू क्या कहेगा? यह खबर बीबीसी को भी इतनी विचित्र लगी कि उसने बालाकोट हवाई हमले के बाद उभरे राष्ट्रवाद से जोड़ते हुए अपनी वेबसाइट पर एक खबर भी जारी कर दी।

यह अंदाजा लगाना आसान है कि यह आदेश कहां से और क्यों आया? लेकिन शायद रायसीना हिल्स में बैठे राष्ट्रवादी पुरोधा इस पर थोड़ा ठहरकर गौर करना चाहें। नारेबाजी से लेकर व्यवस्था स्थापना तक का इतिहास कोई सुखद नहीं है।

एयर इंडिया ने मुंबई स्थित अपनी इमारत के लिए केवल केंद्र सरकार की इकाइयों से ही बोली मांगी है।

जरा फौरी कॉर्पोरेट रिकॉर्ड पर नजर डालते हैं। वित्तीय सेवाओं से लेकर आतिथ्य सत्कार में सक्रिय सहारा समूह 1990 के दशक के आखिरी और 2000 के दशक के शुरुआती वर्षों में अपने चरम पर था। एक बार इसने भारतीय क्रिकेट टीम को प्रायोजित कर यह संकेत देने की कोशिश की थी कि वह भारतीय कारोबारी ढांचे में बड़ी हैसियत हासिल कर चुका है। शायद 2000 के शुरुआती दशक में सहारा प्रबंधन ने अपने कर्मचारियों को 'गुड सहारा' कहकर एक-दूसरे का अभिवादन करने का निर्देश दिया था। इसके साथ ही उन्हें अमेरिकी शैली में सीने पर हाथ भी रखने को कहा गया था। यह रिकॉर्ड में नहीं है कि कर्मचारियों ने प्रबंधन के इस आदेश का असल में पालन किया था या नहीं। लेकिन सहारा एयरलाइंस के पूर्व अधिकारी परवेज दमानिया ने बिज़नेस स्टैंडर्ड के एक सहकर्मी के साथ बातचीत में थोड़ा सकुचाते हुए इस पर मुहर लगाई थी। दमानिया ने कहा था कि उन्हें इसी अंदाज में अपने सहकर्मियों का अभिवादन करना पड़ता था।

लेकिन अब हमें बखूबी पता है कि कर्मचारियों के ऐसे जोशीले अभिवादन भी सहारा के संस्थापक सुब्रत रॉय को नियामकीय अड़चनों में फंसने के बाद एशिया की सबसे बड़ी जेल तिहाड़ जाने से नहीं रोक पाए।

एक खास तरह के नेता के लिए ऐसी नारेबाजी पीछे-पीछे चलने एवं समर्थन का भ्रम पैदा करती है। एडॉल्फ हिटलर से बेहतर इसे कौन समझ सकता है? हिटलर ने जर्मनी की ताकत का अपने लोगों के साथ इस तरह समायोजन किया कि असली नाज़ी अभिवादन 'सीज हेल' की जगह 'हेल हिटलर' ने ले ली थी। उन्हें रोमन शैली में अपने दाहिने हाथ को मोड़ते हुए सीने पर भी रखना पड़ता था। यह सरकारी कर्मचारियों के बीच आपसी अभिवादन का अनिवार्य तरीका था। इस निर्देश को लागू कराने के लिए कई सुरक्षा एजेंसियां भी लगी होती थीं। हालांकि सेनाओं के लिए इस तरह का अभिवादन अनिवार्य नहीं किया गया था।

खुद हिटलर ने भी इस पूरे मामले को काफी गंभीरता से लिया था। कहा जाता है कि हिटलर ने पार्टी रैलियों और सैन्य परेड के दौरान ऐसे अभिवादन स्वीकार करने के लिए खुद को तैयार करने के वास्ते अपने दाएं हाथ और कंधे को कसरत से मजबूत बनाने की कोशिश की थी। देर तक एक ही मुद्रा में खड़े रहने से उसके अनुयायियों की नजरों में उसकी प्रतिष्ठा काफी बढ़ गई। बाकी कार्यक्रमों में वह हाथ हिलाकर ही अभिवादन किया करता था।

हिटलर का सैल्यूट उसके यूरोपीय दुश्मनों के बीच हंसी-मजाक का विषय बना रहा। ब्रिटेन में जर्मनी के राजदूत जोएकिम वॉन रिबनट्रॉप अपने फ्यूरर की शक्ति का भोंडा प्रदर्शन के चलते कई बार हंसी का विषय बने थे। जब रिबनट्रॉप ने ब्रिटिश सम्राट का अभिवादन हिटलर सैल्यूट से किया तो अखबारों में उनकी काफी आलोचना की गई थी।

हालांकि 1943 आने तक 'हेल हिटलर' कैदी वेरमाख सैनिकों के बीच क्रांतिकारी संकेतार्थ रखने लगा। रेड आर्मी ने स्टालिनग्राद शहर के पास वोल्गा नदी के बर्फीले दायरे में उन्हें घेर रखा था। जब हिटलर के इन सैनिकों को सोवियत सेना ने कब्जे में लिया तो वे गहरी निराशा के बीच यही उद्घोष करते थे। उनमें से अधिकतर सैनिक कभी भी अपने घर नहीं लौट पाए। स्टालिनग्राद की यह लड़ाई ही जर्मन सेना के पतन की शुरुआत साबित हुई।

देशभक्ति और राष्ट्रवाद के बीच की रेखा काफी बारीक है। जॉर्ज ऑरवेल ने देशभक्ति को जीवन शैली की प्रशंसा के तौर पर परिभाषित किया है जिसमें एक खास तरह के मूल्यों एवं विश्वास के प्रति निष्ठा जताई जाती है। ऑरवेल कहते हैं कि राष्ट्रवाद की जड़ें प्रतिद्वंद्विता और असंतोष में समाई होती हैं और यह शांति का दुश्मन है। भारत की आर्थिक वृद्धि की रफ्तार सुस्त होने, बेरोजगारी बढ़ने और निर्यात की स्थिति डांवाडोल होने से उस सोच पर अचरज होना स्वाभाविक है कि एयर इंडिया के कर्मचारियों को मातृभूमि का उद्घोष करने के लिए कहा गया।

कानाफूसी

आया पैसा, गया पैसा

सरकार ने किसान सम्मान निधि के नाम पर किसानों को 2,000 रुपये की राशि देने का वादा किया था। हिमाचल प्रदेश के ऊना में किसानों के खातों में यह रुपया आया और दो दिन के भीतर गायब भी हो गया। स्थानीय समाचार पत्रों में छपी खबरों के मुताबिक ऊना के बंगाना के किसानों के सेंट्रल बैंक के खाते में यह राशि आई। अभी किसान इसकी खुशी ही मना रहे थे कि यह पैसा उनके खातों से वापस भी चला गया। संभवत: सरकार के पास वापस। बैंक के अधिकारियों का कहना है कि उनकी इस सब में कोई भूमिका नहीं है। उन्होंने कहा कि पैसा सरकार के पास से आया था और उसी के पास लौट गया। राजस्व विभाग के अधिकारियों के मुताबिक उन्होंने पैसे देने के लिए पीएनबी बैंक का इस्तेमाल किया। सवाल यह है कि पैसा आखिर गया तो गया कहां? क्या यह पैसा वापस खातों में आएगा? अभी तक इस मामले में कोई शिकायत भी दर्ज नहीं कराई गई है।

नयी मुश्किल

पिछले दिनों जब फिरोजपुर के सांसद शेर सिंह घुबाया ने अपनी सीट और अपने दल शिरोमणि अकाली दल से इस्तीफा देकर कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की तो हर कोई चकित रह गया। ऐसा अक्सर नहीं होता कि दो बार से लगातार सांसद बन रहा कोई नेता इस प्रकार दल बदल ले। परंतु इससे कांग्रेस के स्थानीय नेता प्रसन्न नहीं हैं। दरअसल अब घुबाया इस सीट के लिए पहले दावेदार बन गए हैं जबकि कई स्थानीय कांग्रेसी नेता मसलन राणा गुरमीत सिंह सोढ़ी, पंजाब कांग्रेस अध्यक्ष सुनील जाखड़ भी इस पर निगाहें जमाए थे। जाखड़ पिछली दफा गुरदासपुर से लड़े थे। कोई खुलकर अपनी नाखुशी नहीं जाहिर कर रहा है लेकिन चर्चा है कि घुबाया को कांग्रेस की भितरघात का नुकसान उठाना पड़ सकता है।

आपका पक्ष

नशामुक्ति अभियान को देनी होगी गति

नशे के दुष्प्रभाव और उसकी भयावहता से जुड़ी घटनाएं आए दिन समाचारपत्रों की सुर्खियां बन रही हैं। विश्व सहित भारत की आबादी का एक बड़ा हिस्सा किसी ना किसी प्रकार के नशे की गिरफ्त हैं। हाल ही में भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान और सामाजिक न्याय एवं सहकारिता मंत्रालय के संयुक्त तत्वावधान में किये गए एक सर्वेक्षण की रिपोर्ट सार्वजानिक की गई। रिपोर्ट के अनुसार भारत में करीब 6 करोड़ लोग शराब की आदत से ग्रसित हैं। यह संख्या 172 देशों की कुल आबादी से भी अधिक है। एक करोड़ से अधिक भारतीय चरस, गांजा, अफीम, हेरोइन जैसे नशीले पदार्थों का सेवन करते हैं। रिपोर्ट बताती है कि कुल आबादी के लगभग 1 प्रतिशत लोग नशे के लिए दर्द निवारक दवाओं का उपयोग करते हैं जिनमें बच्चों और किशोरों की संख्या सबसे अधिक है। देश में होने वाले शराब के सेवन में 30 प्रतिशत अपरिष्कृत देशी शराब होती है। उपर्युक्त आंकड़े देश में नशे के जाल की विकरालता को दर्शाते हैं। नशे के प्रभाव के कारण समाज में अव्यवस्था और अस्थिरता भी बढ़ती जा रही है। नशे के चलते अपराध के ग्राफ में भी तेज बढ़ोतरी हो रही है। नशे में वाहन चलाने से सड़क दुर्घटनाओं में जानमाल की हानि और आर्थिक क्षति के साथ साथ बहुमूल्य मानव संसाधन ह्रास हो रहा है। नशाजनित घरेलू हिंसा के कारण परिवारों का विघटन हो रहा है। एक आंकड़े के अनुसार नशे से ग्रस्त 20 लोगो में से केवल एक व्यक्ति का इलाज ही अस्पताल में हो पाता है। अधिकांश नशामुक्ति केंद्र सफेद हाथी ही साबित हुए हैं। इन केंद्रों में स्टाफ की कमी है जिसे दूर करने की जरूरत हैं। सरकार को अपने प्रयासों को गति देनी होगी। नशीले पदार्थों की तस्करी रोकने के लिए नीतिगत पहल करनी होगी। नशामुक्ति से संबंधित मौजूदा प्रावधानों को कार्यान्वित करने को लेकर ठोस कदम उठाने होंगे।

ऋषभ देव पांडेय, कोरबा

देश में नशे से रोकथाम के लिए जागरुकता अभियान चलाने की आवश्यकता है

बेरोजगारी संकट से निपटना जरूरी

वर्तमान में भारत बेरोजगारी के संकट से गुजर रहा है। कुछ समय पहले सरकार ने आर्थिक रूप से पिछड़े लोगों को सरकारी नौकरियों में दस फीसदी आरक्षण की घोषणा की है। इससे सवाल उठता है कि क्या आरक्षण से बेरोजगारी खत्म हो जाएगी? इस समय भारत में 4 करोड़ से अधिक लोग रोजगार की तलाश में है तथा प्रतिवर्ष 1 करोड़ 70 लाख लोग रोजगार की तलाश में आ जुड़ते हैं। एक ओर भारत संसाधनों की कमी से जूझ रहा है तो दूसरी ओर कृषि क्षेत्र की अनदेखी और असंतुलित नीतियों ने देश में बेरोजगारी को ओर बढ़ाया है। अब तकनीक और मशीन ने मानव श्रम की जगह ले ली है। उद्योग जगत में रोबोट के बढ़ते इस्तेमाल से भी आने वाले समय में बहुत से लोग प्रभावित होंगे। इन सब समस्याओं से निपटने के लिए सरकार को कृषि क्षेत्र पर ध्यान देना चाहिए और किसानों को परंपरागत खेती से हटकर खेती की उन्नत तकनीकों पर आधारित खेती को बढ़ावा देना होगा। विश्व के विभिन्न हिस्सों में भारतीय तकनीशियन, नर्स, होटल स्टाफ आदि की काफी मांग होती है। सरकार की ओर से इनको बढ़ावा दिया जाना चाहिए। सरकार को बेरोजगारी से निपटने के लिये दूरगामी नीतियों को अपनाने की जरूरत है।

पाठक अपनी राय हमें इस पते पर भेज सकते हैं : संपादक, बिजनेस स्टैंडर्ड लिमिटेड, 4, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली - 110002. आप हमें ईमेल भी कर सकते हैं : lettershindi@bsmail.in उस जगह का उल्लेख अवश्य करें, जहां से आप ईमेल कर रहे हैं।

जनसत्ता

11 मार्च, 2019

हिंसा की जमीन

किसी भी सभ्य समाज में हिंसा की कोई जगह नहीं होनी चाहिए। मगर लोकतांत्रिक गणराज्य होने के बावजूद हमारे यहां जाति, धर्म, समुदाय, भाषा, क्षेत्रीयता, आदि के मसलों पर अक्सर लोग हिंसक हो उठते हैं। मामूली अफवाहों के चलते भी हिंसा की घटनाएं होती रहती हैं। और जब बात देशप्रेम की हो, तो लोग कुछ ज्यादा ही आक्रामक रुख अपना लेते हैं। पुलवामा में सीआरपीएफ के काफिले पर हुए हमले के बाद भी देश में कुछ ऐसा ही माहौल बन गया। कश्मीरी लोगों पर हमले शुरू हो गए। मैदानी इलाकों में पढ़ रहे बच्चों के साथ न सिर्फ उनके सहपाठियों ने बदसलूकी की, बल्कि संस्थानों के प्रशासन का व्यवहार भी आपत्तिजनक देखा गया। कई शहरों में व्यापार कर रहे लोगों की दुकानों में तोड़-फोड़ की गई। ऐसी ही घटना पिछले दिनों लखनऊ में हुई जब दो मेवा विक्रेताओं को कुछ लोगों ने सरेआम पीटा। इस घटना के बाद केंद्रीय गृहमंत्रालय ने सभी राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों को परामर्श जारी किया कि वे कश्मीरी लोगों की सुरक्षा सुनिश्चित करें। प्रधानमंत्री ने भी एक सार्वजनिक मंच से ऐसी घटनाओं पर अफसोस जाहिर करते हुए इन पर रोक लगाने की अपील की। हालांकि पुलवामा की घटना के बाद भी ऐसा परामर्श जारी किया गया था, पर लखनऊ की घटना इस बात का सबूत है कि राज्य सरकारों ने उसे कितनी गंभीरता से लिया।

कश्मीर में आतंकवाद निस्संदेह बड़ी समस्या है। उसमें कई गुमराह कश्मीर नौजवान भी आतंकी संगठनों से जुड़ जाते हैं। पर इसका यह अर्थ कतई नहीं लगाया जा सकता कि इसके लिए सभी कश्मीरियों को अपमानित किया जाए, उनके साथ हिंसक बर्ताव किया जाए। लखनऊ या दूसरे अन्य शहरों में जिन भी कश्मीरी लोगों पर हमले हुए, वे खुद कश्मीर के हालात के सताए हुए हैं। वे इसीलिए कश्मीर छोड़ कर दूसरे शहरों में गए हैं कि थोड़े बेहतर हालात में जीवन बसर कर सकें, कुछ कमा सकें, अपने बच्चों की परवरिश कुछ बेहतर तरीके से कर सकें। मगर हैरानी की बात है कि लोगों में सोचने-समझने की क्षमता, उनका विवेक ऐसी स्थितियों में कहां बिला जाते हैं कि थोड़ा ठहर कर तर्क करना जरूरी नहीं समझते। यों तो सभी इस पक्ष में खड़े दिखते हैं कि कश्मीर भारत का अभिन्न हिस्सा है, पर जब लोग कश्मीरियों पर हमले करने उतरे, तो वे यह तर्क क्यों नहीं कर पाए कि अगर कश्मीर हमारा है, तो कश्मीरियों को पराया कैसे मान लें।

हालांकि ऐसी घटनाएं पहले भी अनेक बार हो चुकी हैं, जब लोग विवेकशून्य होकर हमलावर भीड़ में तब्दील हो जाते हैं। चाहे वह असम में हिंदी भाषियों पर हमला रहा हो या मुंबई में बाहरी लोगों पर, सब इसी विवेकहीनता की वजह से घटित हुए। एक गणराज्य में किसी भी नागरिक को कहीं भी जाकर बसने, काम करने का अधिकार होता है। उसे उसकी भाषा, जाति, समुदाय के आधार पर अलग-थलग नहीं किया जा सकता। मगर जैसे कुछ लोग इसी ताक में रहते हैं कि उन्हें हिंसा करने का मौका मिले और वे करें। ऐसी हिंसक प्रवृत्ति का फायदा उठाते हैं कुछ संकीर्ण स्वार्थों वाले शरारती लोग। वे लोगों को उकसाते, कोई अफवाह फैलाते हैं और फिर हिंसा का सिलसिला शुरू हो जाता है। ऐसे में गृहमंत्रालय के परामर्श पर राज्य सरकारें कितनी गंभीरता से अमल करेंगी, यह देखने की बात है। जब तक राजनीतिक इच्छाशक्ति दृढ़ नहीं होगी, ऐसी घटनाएं चुनौती बनी रहेंगी।

संदेश और सवाल

नीरव मोदी के महाराष्ट्र के रायगढ़ जिले में समुद्र किनारे बने बंगले को डायनामाइट से उड़ा दिया गया है। इस कार्रवाई से यह संदेश देने की कोशिश की गई है कि घोटालेबाज बख्शे नहीं जाएंगे। उनकी संपत्ति जब्त होगी, जब्त सामान और जायदाद बेच कर पैसे निकलवाए जाएंगे। सौ करोड़ रुपए का यह बंगला इसलिए गिराया गया है क्योंकि यह सरकारी जमीन पर अवैध कब्जा करके बनाया गया था। अभी तक यह प्रवर्तन निदेशालय (ईडी) के कब्जे में था। लेकिन यह मामला अवैध निर्माण का था, जिसमें नीरव मोदी तो दोषी है ही, उससे भी बड़ा गुनहगार वह सरकारी तंत्र है जिसने इस बंगले को बनने दिया। लेकिन तब नीरव मोदी घोटालेबाजों और भगोड़ों की श्रेणी में नहीं था, बल्कि एक ऐसा ताकतवर कारोबारी था जिसे भारत के बैंकिंग और सत्ता तंत्र से भरपूर मदद मिलती रही थी। वरना क्या महाराष्ट्र सरकार और रायगढ़ का स्थानीय प्रशासन इस बंगले को बनने से नहीं रुकवा सकता था?

लेकिन सवाल है इस कार्रवाई से नीरव मोदी पर फर्क क्या पड़ने वाला है? वह तो इन दिनों ठाठ से ब्रिटेन में कारोबार कर रहा है उसने वहां का सरकारी नेशनल इंश्योरेंस नंबर हासिल कर लिया है। भले सीबीआइ, प्रवर्तन निदेशालय जैसी बड़ी जांच एजेंसियों ने उसके खिलाफ कमर कसी हुई है, बैंक खाते जब्त कर लिए हैं और संपत्तियां सील कर दी है, लेकिन हकीकत यह है कि वह लंदन में पूरी तरह सुरक्षित है और खुलेआम घूम रहा है और भारत सरकार और उसके नियम-कानूनों को खुली चुनौती दे रहा है। हाल में नीरव मोदी का जो वीडियो वायरल हुआ है उसमें वह एक अखबार के पत्रकार के हर सवाल के बारे में मुस्कुराते हुए सिर्फ एक ही जवाब देता दिख रहा है- नो कमेंट। एकदम शांति मुद्रा में और निश्चिंत। जाहिर है, उसे अब कोई खौफ नहीं है भारत के किसी भी कानून का। उसके खिलाफ इंटरपोल का रेड कॉर्नर नोटिस तक निकला हुआ है। इसलिए यह सवाल उठना स्वाभाविक ही है कि आखिर वह इंटरपोल की पकड़ से बाहर कैसे है!

नीरव मोदी और उसका मामा मेहुल चौकसी पंजाब नेशनल बैंक के तेरह हजार करोड़ रुपए घोटाले के आरोपी हैं। मेहुल चौकसी ने तो एंटीगुआ की नागरिकता ले ली है। उसके प्रत्यर्पण के लिए भले सरकार हाथ-पैर मार रही हो, लेकिन हालात कुछ ही और बयां कर रहे हैं। ब्रिटेन के गृह मंत्री ने इस दिशा में पहला कदम यह उठाया है कि उन्होंने के भारत इस अनुरोध को एक अदालत को भेज दिया है। अब ब्रिटेन में उसके खिलाफ कानूनी प्रक्रिया शुरू होगी। इसमें भी सब वैसा ही होगा जैसा विजय माल्या के मामले में हमने अब तक होते देखा है। दरअसल, ऐसे घोटालेबाज और भगोड़े कानूनी दांवपेचों, लंबी कानूनी प्रक्रियाओं और अपने रसूख का भरपूर फायदा उठाते हैं। ऐसे लोगों के खिलाफ सबूत जुटाना और उन्हें साबित करना बहुत ही दुष्कर और जोखिमभरा काम होता है। इसमें कोई शक नहीं कि ऐसे लोग पनपते भी इसी सत्ता तंत्र की मेहरबानी से हैं। जब तक विजय माल्या, मेहुल चौकसी और नीरव मोदी को भारत लाया जाएगा, तब तक एक लंबा वक्त गुजर जाएगा और घोटालों का शोर भी वक्त के साथ धीमा पड़ता चला जाएगा।

कल्पमेधा

मन अपनी इच्छा से स्वयं स्वर्ग को नरक और नरक को स्वर्ग बनाता है।

– मिल्टन

आर्थिक घेरेबंदी में पाक

जयंतीलाल भंडारी

पिछले दिनों भारत ने पाकिस्तान पर जो आर्थिक प्रतिबंध लगाए हैं, उनसे भी पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था कमजोर होगी। पुलवामा हमले के तत्काल बाद भारत ने पाकिस्तान से सर्वाधिक तरजीह वाले देश (एमएफएन) का दर्जा छीन लिया था। इसके बाद पाकिस्तान से आयात होने वाली सभी वस्तुओं पर दो सौ फीसद का आयात शुल्क लगा दिया था। इसका पाक अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना शुरू हो गया है।

भारत और पाकिस्तान के बीच चल रहे तनाव के बीच दुनिया के अर्थविशेषज्ञों और कूटनीतिक जानकारों का मानना है कि भारत ने बालाकोट में आतंकी ठिकानों को ध्वस्त करके पुलवामा आतंकी हमले का जो बदला लिया है उससे पूरी दुनिया में भारत की तस्वीर एक बड़ी ताकत के रूप में उभरी है। अब भारत को पूरी ताकत से पाकिस्तान पर आर्थिक प्रहार करने होंगे। बीस वर्ष पहले करगिल युद्ध के दौरान दोनों देशों को भारी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी थी। अब बीस वर्ष बाद भारत पाकिस्तान से किसी भी युद्ध की स्थिति में आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत मजबूत स्थिति में है। भारत तो युद्ध के भारी-भरकम खर्चों को वहन कर सकता है, लेकिन पाकिस्तान ऐसी स्थिति में नहीं है। यही वह कारण है जिससे पाकिस्तान भारत के सामने घुटने टेकते हुए दिखाई दे रहा है।

निश्चित रूप से यदि भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध हुआ तो यह पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था के लिए मुश्किलें बढ़ाने वाला होगा। करगिल युद्ध के दौरान प्रत्येक देश को करीब पंद्रह करोड़ रुपए रोजाना का खर्च आया था। करगिल युद्ध कश्मीर के एक छोटे क्षेत्र तक ही सीमित था, इसलिए यह खर्च इतना था। लेकिन अब रक्षा विशेषज्ञों का कहना है की जिस तरह बहुत बड़े क्षेत्र में बड़े पैमाने पर भारत-पाक युद्ध छिड़ने की आशंका बढ़ रही है, उसमें प्रत्येक देश के लिए दस हजार करोड़ रुपए प्रति सप्ताह तक खर्च हो सकता है। इस समय भारत का वार्षिक रक्षा बजट पाकिस्तान से पांच गुना ज्यादा है। भारत की अर्थव्यवस्था पाकिस्तान से काफी बेहतर और मजबूत है। भारत की अर्थव्यवस्था पाकिस्तान से करीब नौ गुना बड़ी है और भारत से होने वाला निर्यात पाकिस्तान की तुलना में करीब दस गुना अधिक हैं। ऐसे में युद्ध होने की दशा में पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था चौपट हो जाएगी।

पाकिस्तान इस वक्त गंभीर आर्थिक संकट में है, एक तरह से दिवालिया जैसी स्थिति में पहुंच चुका है। विकास दर चार फीसद से भी कम है और विदेशी मुद्रा भंडार 17 अरब डॉलर से भी कम है। उसने आर्थिक मदद के लिए अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आइएमएफ) से गुहार लगाई है। दिसंबर 2017 से अब तक पाकिस्तानी रुपए का चार बार अवमूल्यन हो चुका है। चीन सहित कई विदेशी संस्थाओं पर बहुत अधिक आर्थिक निर्भरता ने पाकिस्तान को आर्थिक रूप से कमजोर बना दिया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि पाकिस्तान के पास अपने आयात बिलों का भुगतान करने के लिए विदेशी जमा पूंजी भी नहीं बची है। पाकिस्तान का निर्यात कम है और आयात इसका लगभग दोगुना है। पाकिस्तान पेट्रोलियम, औद्योगिक सामान और खाद्य तेल जैसी जरूरी चीजों का आयात करता है। अंतरराष्ट्रीय बाजार में इन चीजों के दाम लगातार बढ़ रहे हैं जबकि पाकिस्तान से निर्यात होने वाले कपास और सूत की कीमत लगातार घट रही है। अमेरिका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप ने पाकिस्तान को मिलने वाली दी जाने वाली अमेरिकी मदद काफी कम कर दी है और अगले साल भी इसमें और कटौती की धमकी दी है। चीन से मिल रहे कर्ज पर भी पाकिस्तान को खासा ब्याज देना पड़ रहा है। कुल मिला कर पाकिस्तान की माली हालत बदतर हो चुकी है। नकारात्मक छवि की वजह से पाकिस्तान में विदेशी निवेश लगातार घट रहा है। ऐसे में रक्षा विशेषज्ञों का कहना है कि मौजूदा हालात में पाकिस्तान छह दिन के युद्ध की आर्थिक लागत भी नहीं उठा पाएगा।

दूसरी ओर भारत पाकिस्तान की तुलना में काफी मजबूत स्थिति में है। भारत में विदेशी निवेश बढ़ रहे हैं। इस समय जहां भारत के विदेशी मुद्रा कोष में चार सौ अरब डॉलर संचित हैं, वहीं सात फीसद से अधिक विकास दर के साथ भारत दुनिया का सबसे अधिक विकास दर वाला देश है और भारतीय अर्थव्यवस्था दुनिया की छठी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने भी कहा है कि भारतीय अर्थव्यवस्था दुनिया में सबसे तेज रफ्तार से आगे बढ़ रही है। विश्व बैंक की रिपोर्ट के मुताबिक वर्ष 2017 के अंत में भारत का सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) 2.6 लाख करोड़ डॉलर (178.59 खरब रुपए) हो गया। ऐसे में जीडीपी के आंकड़ों के आधार पर भारत फ्रांस को पछाड़ कर दुनिया की छठी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बन गया है। विश्व बैंक का कहना है कि पिछले कुछ सालों में

भारत की अर्थव्यवस्था में अच्छा सुधार हुआ है। भारतीय अर्थव्यवस्था के आंकड़े अर्थव्यवस्था की मजबूती के संकेतक हैं। जाहिर है, भारत तो फिर भी एक बार युद्ध का खर्च झेल सकता है, लेकिन पाकिस्तान इसमें आर्थिक रूप से तबाह हो जाएगा।

पिछले दिनों भारत ने पाकिस्तान पर जो आर्थिक प्रतिबंध लगाए हैं, उनसे भी पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था कमजोर होगी। पुलवामा हमले के तत्काल बाद भारत ने पाकिस्तान से सर्वाधिक तरजीह वाले देश (एमएफएन) का दर्जा छीन लिया था। इसके बाद पाकिस्तान से आयात होने वाली सभी वस्तुओं पर दो सौ फीसद का आयात शुल्क लगा दिया था। इसका पाक अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना शुरू हो गया है। भारत के आर्थिक प्रतिबंधों के बाद पाकिस्तान में महंगाई दर आठ फीसद से अधिक हो गई है। जनवरी में यह सात फीसद के लगभग थी। लेकिन भारत पर पाकिस्तानी सामान का आयात घटने का अधिक दबाव नहीं पड़ा है। जो वस्तुएं पाकिस्तान से भारत आती हैं, वे अधिकांश वस्तुएं अब सरलता से और किफायती दामों पर अफगानिस्तान से भारत आ सकेंगी। अफगानिस्तान ने 24 फरवरी, 2019 से ईरान के चाबहार बंदरगाह से भारत को निर्यात शुरू कर दिया है। भारत में महंगाई नियंत्रित है। यह चार फीसद के लगभग ही है। पाकिस्तान से आयात बंद होने पर भारत में महंगाई नहीं बढ़ी है।

पाकिस्तान पर शिकंजा कसने के लिए भारत ने नदियों का पानी रोकने की भी चेतावनी दी है। भारत ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि 1960 में हुए सिंधु जल समझौते के कारण पाकिस्तान को जो लाभ हो रहे हैं, उन्हें भी रोका जाएगा। इससे पाकिस्तान चिंतित है। एक मार्च को पाकिस्तान ने संयुक्त राष्ट्र को पत्र लिख कर कहा है कि भारत के द्वारा पानी को हथियार के रूप में उपयोग करने से पाकिस्तान के सामने पीने के पानी व कृषि व उद्योग के लिए संकट खड़ा होगा। यदि भारत अब आतंकी हमले और शत्रुता के मद्देनजर सिंधु जल समझौते को तोड़ दे तो पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था बुरी तरह प्रभावित होगी।

इन सबके अलावा यदि भारत पाकिस्तान रहित एशियन एसोसिएशन फॉर रीजनल कोऑपरेशन (सार्क) के साथ-साथ पाकिस्तान रहित साउथ एशियन फ्री ट्रेड एरिया (साफ्टा) की संभावना को आगे बढ़ाएगा और म्यांमार, श्रीलंका, थाईलैंड, नेपाल और भूटान को मिला कर गठित समूह बिम्सटेक (बे ऑफ बंगाल इनीशिएटिव फॉर मल्टी सेक्टर टेक्नीकल एंड इकोनॉमिक कोऑपरेशन) को बढ़ावा देगा, तो पाकिस्तान का पड़ोसी देशों के साथ कारोबार घटेगा और यह भी पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था के लिए बड़ी चुनौती होगी। निश्चित रूप से पाकिस्तान के घोर आतंकवादी रवैये को भारत के आर्थिक विकास की शक्ति, कूटनीति और भारतीय सेना के शौर्य ने रोका है। इस समय हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि जिस तरह दोनों विश्व युद्धों का अंतिम फैसला युद्ध से नहीं आर्थिक शक्ति व कूटनीति की बिसात पर हुआ था, इसी तरह यदि हम पाकिस्तान से एक और युद्ध जीत भी लें तो भी पाकिस्तान प्रायोजित आतंकवाद का समाधान नहीं निकलेगा। इसलिए अब पाक को पूरी तरह से परास्त करने के लिए उसके खिलाफ विभिन्न आर्थिक रणनीतियों और प्रतिबंधों और सतर्क व स्पष्ट कूटनीति की डगर पर आगे बढ़ने की जरूरत है।

एक चिड़िया अनेक चिड़िया

हेमंत कुमार पारिक

दुनिया मेरे आगे

सन 1974 में एक गाना बच्चों के बीच काफी लोकप्रिय हुआ था- 'एक चिड़िया अनेक चिड़िया..!' बच्चे क्या, बुजुर्गों को भी मैंने यह गाना गुनगुनाते सुना था। यह गीत दूरदर्शन पर भी अक्सर प्रसारित होता था। व्यापक अर्थ वाला यह गाना बच्चों की जुबान पर चढ़ गया था। इसके बहुत पहले एक फिल्मी गाना था जो चिड़िया और हमारे आसपास रहने वाले जीव-जंतुओं को लेकर लिखा गया था। वह गाना था- 'चुन-चुन करती आई चिड़िया...।' चिड़िया के साथ अपने आसपास रहने वाले अन्य पशु-पक्षियों को भी इसमें शामिल किया गया था। लेकिन गाने की शुरुआत चिड़िया से हुई थी। चिड़िया यानी गौरैया!

चिड़िया को लेकर पहले भी जातक कथाओं में और घर में तीज-त्योहार पर कई किस्से-कहानी कहते और सुनते आ रहे हैं। दरअसल, चिड़िया ही वह पक्षी है जो आदमी के एकदम करीब है। छोटी-सी चिड़िया किसी को नुकसान नहीं पहुंचाती, बल्कि कुत्ते-बिल्लियों की तरह इंसान के पास ही रहना चाहती है। काफी पहले मेरे घर के पंखे पर उसका घोंसला हुआ करता था। पंखा अमूमन गरमी में ही चलता था, इसलिए उसने अपना स्थायी निवास उसे ही बना लिया था। वह उसी में अंडे देती थी। कुछ दिनों बाद नवागतों की चीं-चीं की आवाज सुनाई देती थी। कभी-कभी कुछ अंडे लुढ़क कर नीचे गिर कर फूट भी जाते। वह पंखे पर बैठी दुखी होकर उन्हें देखती रहती थी। गरमी के दिनों में उस पंखे की जरूरत पड़ती तो मां कहती कि 'रहने दे, चिड़िया के बच्चे होंगे। कहीं चिड़िया पंखे के ब्लेड से टकरा न जाए।' इसी कारण ड्राइंग रूम में पंखा नहीं चलता था। अलग से एक टेबल पंखा खरीदा गया था। मुझे याद है कि चिड़िया के बच्चों की चीं-चीं से पूरा घर जैसे बोलने लगता था। चिड़िया के छोटे-छोटे बच्चों को छूने का मन करता तो मां फटकार लगाती- 'छूना नहीं! बच्चे को चिड़िया मार डालेगी।' इसका कारण तो मैं कभी नहीं जान पाया, लेकिन फुदकते बच्चों को एकटक देखता रहता था।

मां की आदत थी चिड़ियों को दाना डालने की। गरमी में उनके लिए मिट्टी के बर्तन में पानी भर कर पेड़ से लटका देती थी। वह पानी चिड़िया और अन्य दूसरे पक्षियों की प्यास बुझाता था। सरकारी क्वार्टर था। वहां से निकल कर निजी मकान में आए तो सबसे पहले मां ने ही कहा था कि कहां घर लिया है... यहां तो एक भी चिड़िया दिखाई नहीं पड़ रही है। हमारा घर शहर से दूर था। हालांकि गांव का माहौल था। वहां चिड़िया मिलने की सौ फीसदी गारंटी थी, पर अफसोस वहां एक भी चिड़िया नहीं दिख पा रही थी।

शायद वजह यह थी कि उस इलाके में कई औद्योगिक इकाइयां लग गई थीं। एकाध बार दिखाई पड़ी भी तो धुएं और कार्बन से काली हुई चिड़िया को मैं पहचान ही नहीं पाया। मां का दिल रखने के लिए मैंने घर में कॉलबेल लगवाई। एक छोटा-सा लकड़ी का घर और उसमें खिलौना चिड़िया थी जो बटन दबाते ही चीं-चीं बोलने लगती थी। फिर भी मां इस उम्मीद से चावल के दाने डालती रहती कि कोई चिड़िया होगी तो आ जाएगी जरूर। मगर उनका वह प्रयास अकारथ जाता था। एक-दो जंगली कबूतर दाना चुगते दिखते। चिड़िया कहीं नजर नहीं आती। वजह साफ है- प्रदूषण! चिड़िया जैसी और कई प्रजातियों का अचानक विलुप्त हो जाना खतरे की घंटी बजा रहा है। किसी वैज्ञानिक का दावा है कि जिस दिन मधुमक्खी का अस्तित्व खत्म होगा, वह जीती जागती दुनिया का आखिरी दिन होगा। वजह साफ है। इस भागमभाग जिंदगी में हम आधुनिकीकरण की दौड़ में बेतहाशा दौड़े चले जा रहे हैं। बिना यह समझे कि पीछे बहुत कुछ खोता जा रहा है।

पक्षियों के लिए जीवन-संघर्ष विकट होता जा रहा है। आज केवल एक चिड़िया ही नहीं है, बल्कि और सभी पक्षी हैं। मसलन, कबूतर, कौवा, बुलबुल, कोयल। भौंरे और तितलियां भी आजकल नजर नहीं आतीं। वरना कभी कौवा और कोयल की तुलना में हम संस्कृत श्लोक पढ़ा करते थे- 'काकः कृष्णः पिकः कृष्णा, को भेदो पिक काकयो..।' उजड़ती अमराइयों, बगीचों और फैलते कंक्रीट के जंगलों ने इनका जीना दूभर कर दिया है। एक आकलन के मुताबिक विश्व में करीब साढ़े छह सौ पक्षी प्रजातियां संकट के दौर से गुजर रही हैं। कीटनाशक दवाओं और रासायनिक खर-पतवार नाशकों के छिड़काव ने पक्षियों को बहुत नुकसान पहुंचाया है।

शहरी परिवेश में पहले जैसी परिस्थितियां नहीं हैं, जैसे आंगन, रोशनदान, पेड़ आदि। सुरक्षित स्थान कम होने से चिड़िया, कबूतरों और अन्य प्रजातियों को घोंसले बनाने में कठिनाई होती है। इसके अलावा, संचार साधनों के ऐसे जाल फैले हैं कि पक्षी क्या, इंसान की जान भी सुरक्षित नहीं है। अभी भी हमारे हाथ में बहुत कुछ है। सुबह- सुबह हम चहकती चिड़िया को देखना चाहते हैं तो अपने आसपास के वातावरण को शुद्ध करना होगा, ताकि आने वाली पीढ़ियों को हम जीती-जागती चीं-चीं करती चिड़िया दिखा सकें। वरना किताबों में चिड़िया के चित्र को दिखाते हुए कहेंगे- 'इसे गौरैया कहते हैं।'

दबाव में बच्चे

देश में बढ़ती मंहगाई, बेरोजगारी और प्रतिस्पर्धा को देख कर हर माता-पिता अपने बच्चों को इन सभी समस्याओं से दूर रखने और उनके बेहतर भविष्य के लिए उन्हें अच्छी शिक्षा के लिए प्रेरित करते हैं, ताकि बच्चे अच्छे डॉक्टर, इंजीनियर, वकील आदि जैसे पेशों में शोहरत कमा सकें और समाज में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति बन सकें। लेकिन वैश्वीकरण के कारण आज पढ़ाई के अतिरिक्त खेल, संगीत, नृत्य जैसे कई अन्य क्षेत्र है जिसमे बच्चे अपना भविष्य बनाना चाहते हैं। लेकिन पढ़ाई को लेकर माता-पिता की बच्चों पर जो अपनी इच्छाएं थोप रहे हैं और उन्हें पूरा करने के लिए बच्चों पर दबाव बना रहे हैं उससे गंभीर संकट खड़ा हो गया है। भविष्य तय करने की नीति युवाओं की जिंदगी लिए घातक साबित हो रही है। अभिभावकों द्वारा बच्चों पर जबरदस्ती थोपे जा रहे विकल्प आज आत्महत्या का कारण बनते जा रहे हैं। भारत में 15 से 29 साल की उम्र के किशोरों और युवा वयस्कों के बीच आत्महत्या की दर सबसे अधिक है। महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल और मध्य प्रदेश में युवाओ के आत्महत्या के आंकड़े सबस ज्यादा हैं। नेशनल हेल्थ प्रोफाइल रिपोर्ट के अनुसार परीक्षा में विफलता देश में आत्महत्याओं के शीर्ष दस कारणों में से एक है, जबकि पारिवारिक समस्या शीर्ष तीन में है।

मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञों के अनुसार युवाओं में आत्महत्या के बढ़ते आंकड़ों का मुख्य कारण है डर से आत्महत्या करना, क्योंकि आज अच्छे नतीजे और माता-पिता के दबाव को बच्चे बर्दाश्त नहीं कर पाते और यही दबाव धीरे-धीरे छात्रों, बच्चों के लिए डर की स्थिति में परिवर्तित होने लगता है और मौत का कारण बन जाता है। माता-पिता को समझना होगा कि बेहतर भविष्य के लिए वे बच्चों पर पढ़ाई के प्रति दबाव और डर की स्थिति न बना कर उन्हें उनकी अभिरुचि के अनुसार उनके भविष्य के चुनाव करने का मौका दें।

● *अमित कुमार, दिल्ली विवि*

चोरी बनाम पत्रकारिता

पत्रकारिता लोकतंत्र का चौथा व महत्त्वपूर्ण स्तंभ है जो हमेशा सत्ता को उसकी जिम्मेदारियों और दायित्वों का एहसास दिलाती रहती है। छह मार्च को हिंदू के खिलाफ कार्रवाई की धमकी भी दी गई। यहां महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि ऐसी खबर जिससे न्याय मिलने में आसानी होती हो या कोई भ्रष्टाचार उजागर होता है तो क्या इसे दबाना उचित है? जिसे सरकार चोरी कह रही है असल मे उसे पत्रकार जगत में 'खोजी पत्रकारिता' कहा जाता है जिसमे ऐसे दस्तावेजों और सबूतों को इकट्ठा किया जाता है जो सरकार या किसी अधिकारी के भ्रष्ट आचरण को उजागर करने में मददगार होते हैं। ऐसे में सरकार अगर कानून का इस्तेमाल पत्रकारिता में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रहार करने में करती है तो यह देश में पत्रकारिता की भावना को हतोत्साहित करने का प्रयास भी होगा।

● *अभिनीत सिंह ठाकुर, सिवनी (म.प्र.)*

नारी की शक्ति

आठ मार्च को भारत सहित सभी देशों में अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस मनाया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1975 से इसकी शुरुआत की थी। अमेरिका में तो यह 1909 में शुरू हो गया था। रूस इसे 1917 में अपनाया। पच्चीस देशो में तो इस दिन सार्वजनिक अवकाश रहता है। चीन में महिलाओं की छुट्टी होती है। अमेरिका, महिलाओं के नाम पर साल में छह दिन छुट्टी देता है। इतना होते हुए भी सबकुछ औपचारिक ही लग रहा है। थोड़े-बहुत बदलाव के साथ ही, आज भी महिलाओं की बड़ी आबादी लाचार है, बराबरी के लिए संघर्षरत हैं। कार्यस्थलों पर इन्हें पुरुष सहकर्मियों की तुलना में कम मेहनताना दिया जाता है। राजनीति में, लंबे संघर्ष के बाद वोट देने का अधिकार तो मिल गया, मगर अनेक देशों में पुरुष अभिभावक के संरक्षण में उसे काम करना पड़ता है। घर में और बाहर भी यौन शोषण की घटनाएं जारी हैं। परिवार में गैरबराबरी का दंश झेल रही हैं। कई समाजों में बेटों को अब भी बेटियों की तुलना में तरजीह देने का रिवाज जारी है। पुरुष की तुलना में शारीरिक शक्ति में बर्चस्व होने का यह मतलब कतई नहीं है कि महिलाओं को दूसरे दर्जे का नागरिक समझा जाए। इन्हें महज उपभोग का वस्तु समझा जाए। इनका स्थान केवल रसोई और बच्चे संभालने तक ही समिति नहीं है। ये हर वो काम कर सकती हैं जो एक पुरुष करता है। महिलाएं पुरुषों से हमेशा से आगे थीं, आगे हैं और आगे रहेंगी।

● *जंग बहादुर सिंह, जमशेदपुर*

नेताओं का व्यवहार

हाल में भाजपा के एक सांसद और विधायक के बीच जूतम-पैजार का जो वीडियो वायरल हुआ, वह बहुत ही शर्मनाक है। यह घटना बताती है कि हमारे जनप्रतिनिधि ऐसा कर किस प्रकार की संदेश दे रहे हैं। भाजपा सांसद ने अपनी ही पार्टी के विधायक को बैठक के दौरान जिस तरह से जूती से पीटा और पलटवार में विधायक ने सांसद को चोट मारी, उससे पार्टी की छवि धूमिल हुई ही, जनप्रतिनिधियों के व्यवहार पर सवाल खड़े हो गए हैं। हालांकि ऐसी घटनाएं जब-तब देखने में आती हैं। सदनों के भीतर भी और बाहर भी। राजनीति कितनी दोषपूर्ण हो चुकी है कि यह घटना इसका प्रमाण है।

● *शशांक वार्ष्णेय, दिल्ली विवि*

चौपाल

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

विकास में विषमता

भारतीय अर्थव्यवस्था की बढ़त का एक नकारात्मक पक्ष राज्यों का असमान विकास रहा है. स्टेट बैंक ऑफ इंडिया द्वारा जारी मानव विकास सूचकांक ने भी इस तथ्य को रेखांकित किया है. इस सूची में केरल, गोवा, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, पंजाब और तमिलनाडु शीर्ष पर हैं, तो उत्तर प्रदेश और बिहार निचले पायदान पर हैं, लेकिन कुछ अहम तथ्य भी विचारणीय हैं. औद्योगिक रूप से उन्नत गुजरात और महाराष्ट्र कुछ नीचे आये हैं. दक्षिणी राज्यों में विकास की गति बरकरार है और राजस्थान, उत्तर प्रदेश, ओड़िशा और मध्य प्रदेश में भी उत्साहवर्द्धक परिणाम हैं. इस रिपोर्ट को तैयार करने में तीन मानदंडों को आधार बनाया गया है- शिक्षा, स्वास्थ्य एवं जीवन स्तर. हालांकि पूर्वी और उत्तरी राज्य भी विकास की राह पर हैं, पर दक्षिणी राज्यों की तुलना में इसे संतोषजनक नहीं माना जा सकता है. कुछ समय पहले स्टेट बैंक की ही वार्षिक रिपोर्ट के निष्कर्षों के साथ सूचकांक को देखें, तो जनसंख्या में असमानता भी एक चुनौती के रूप में हमारे सामने है. दक्षिण के राज्यों में जनसंख्या नियंत्रण के परिणामस्वरूप कुछ समय बाद अधिक उम्र के लोगों की आबादी ज्यादा हो जायेगी, जबकि उत्तर और पूर्व के राज्यों में युवाओं की संख्या बढ़ती जायेगी. इस आबादी के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार उपलब्ध कराने के लिए विकास प्रक्रिया को तेज करने की दरकार है. जनसंख्या का यह असंतुलन पलायन का भी एक कारण है और इसके सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभावों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है. संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के मानव विकास सूचकांक की कमियों को दूर करने के उद्देश्य से ऑक्सफोर्ड की पहल पर बहुआयामी निर्धनता सूचकांक पिछले साल जारी हुआ था. संयुक्त राष्ट्र के सूचकांक में आय एक महत्वपूर्ण कारक होता है, पर ऑक्सफोर्ड के अध्ययन में शिक्षा, स्वास्थ्य और जीवन स्तर को आधार बनाया गया था. इस कारण उसकी तुलना स्टेट बैंक की ताजा रिपोर्ट से करना तर्कसंगत है. संयुक्त राष्ट्र सूचकांक में भारत का स्थान विश्व में 130वां है और बहुआयामी निर्धनता सूचकांक में 53वां (105 देशों में) है. बहुआयामी सूचकांक के राज्यवार विवरण के अनुसार, देश के सबसे निर्धनतम 50 जिले बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, ओड़िशा और उत्तर प्रदेश में हैं. इस आंकड़ों को विस्तार दें, तो देश के 100 सबसे गरीब जिलों में से 91 इन्हीं सात राज्यों में हैं. बिहार की आधी से अधिक तथा मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश की 40 फीसदी से अधिक आबादी कई स्तरों पर वंचना के न्यूनतम स्तर पर है. इस आंकड़े को अन्य राज्यों से मिला कर देखें, केरल में बहुआयामी वंचना एक फीसदी तथा दिल्ली, पंजाब, गोवा, सिक्किम और तमिलनाडु सरकार में चार से सात फीसदी है. जैसा कि स्टेट बैंक की रिपोर्ट में कहा गया है, आयुष्मान भारत जैसी पहलों से इस दशा में व्यापक सुधार की आशा है. यही संभावना अन्य केंद्रीय और राज्य-स्तरीय कार्यक्रमों को लेकर जतायी जा सकती है. वंचना का यह हाल दशकों से चला आ रहा है, सो समाधान में भी समय लगना स्वाभाविक है.

दक्षिणी राज्यों में विकास की गति बरकरार है और राजस्थान, उत्तर प्रदेश, ओड़िशा और मध्य प्रदेश में भी उत्साहवर्द्धक परिणाम हैं.

आखिर हम चिंतित क्यों नहीं होते

आशुतोष चतुर्वेदी
प्रधान संपादक, प्रभात खबर
ashutosh.chaturvedi@prabhatkhabar.in

प्रदूषण को लेकर एक के बाद एक रिपोर्टें आ रही हैं, जिनमें भारत के शहरों की चिंताजनक स्थिति की ओर इशारा किया जा रहा है. बावजूद इसके, हम इस ओर आंख मूंदे हैं. कोई चिंता नहीं जतायी जा रही है. समाज में भी इसको लेकर कोई विमर्श नहीं हो रहा है. अगले महीने आम चुनाव हैं, लेकिन उनमें भी यह कोई मुद्दा नहीं है और न ही पर्यावरण संरक्षण किसी पार्टी के घोषणापत्र में स्थान पाता है. आइक्यूएयर एयर विजुअल और ग्रीनपीस ने हाल में अध्ययन प्रकाशित किया है, जिसके अनुसार दुनिया के सबसे ज्यादा प्रदूषित 10 शहरों में से सात भारत के हैं. इनमें पांच तो राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली के ही हैं. प्रदूषण स्तर के मामले में टेकनोलॉजी का क्षेत्र का हब माने जाने वाला गुरुग्राम प्रदूषण के मामले में दुनिया में टॉप पर है. रिपोर्ट के मुताबिक दूसरे नंबर पर गाजियाबाद है. हरियाणा का फरीदाबाद चौथे, यूपी का नोएडा छठवें और राजधानी दिल्ली 11वें नंबर पर है. इस सूची में पटना सातवें नंबर पर और मुजफ्फरपुर 13वें स्थान पर है.

देश में प्रदूषण का स्तर कितना ज्यादा है, इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस सूची में प्रदूषित शीर्ष 10 शहरों में से सात भारत के हैं. दुनियाभर के देशों की राजधानियों से तुलना करें, तो भारत की राजधानी दिल्ली सबसे ज्यादा प्रदूषित है. दिल्ली को लेकर लगातार रिपोर्टें आ रही हैं, लेकिन स्थिति जस-की-तस है. प्रदूषण के मामले में दिल्ली के बाद नंबर आता है बांग्लादेश की राजधानी ढाका और अफगानिस्तान की राजधानी काबुल का. इससे पता चलता है कि आप किस श्रेणी में हैं. ये आंकड़े किसी भी देश और समाज के लिए बेहद चिंताजनक हैं. सन् 2013 में दुनिया के 20 सबसे प्रदूषित शहर में चीन के पेइचिंग समेत 14 शहर शामिल थे, लेकिन चीन ने कड़े कदम उठाये और प्रदूषण की समस्या पर काबू पा लिया. दरअसल, विकास के नाम पर औद्योगिक इकाइयों को धुआं फैलाने की खुली मिल जाती है. औद्योगिक इकाइयां, बिल्डर और खनन माफिया पर्यावरण संरक्षण कानूनों की खुलेआम अनदेखी करते हैं. औद्योगिक इकाइयों के अलावा वाहनों की बढ़ती संख्या, धुआं छोड़ती पुरानी डीजल गाड़ियां, निर्माण कार्य और टूटी सड़कों की वजह से भी हवा में धूल का उड़ना भी प्रदूषण की बड़ी वजह हैं. प्रदूषण को लेकर सख्त नियम हैं, लेकिन उनको लागू करने वाला कोई नहीं है. जनता से जुड़े इस विषय पर विस्तृत विमर्श होना चाहिए, लेकिन ऐसा भी होता नजर नहीं आता है. सोशल मीडिया पर रोजाना कितने घटिया लतीफे चलते हैं, लेकिन पर्यावरण जागरूकता को लेकर संदेशों का आदान-प्रदान नहीं होता है. टीवी चैनलों पर रोज शाम बहस होती है, लेकिन बढ़ते प्रदूषण पर कोई सार्थक चर्चा नहीं होती.

वायु प्रदूषण के शिकार सबसे ज्यादा बच्चे और बुजुर्ग होते है. वायु प्रदूषण से हर वर्ष 70 लाख लोगों की जान चली जाती है, जिनमें छह लाख बच्चे हैं. दुनिया में औसतन सात में से एक बच्चा जहरीली हवा में सांस लेने को मजबूर है. कई वर्षों तक प्रदूषित हवा में सांस लेने के कारण कैंसर, हृदय और श्वांस संबंधी बीमारियां हो जाती हैं और लोग अपनी जान गंवा बैठते हैं. पर्यावरण और मानवाधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र के विशेष दूत डेविड बॉयड का कहना है कि लोगों को स्वच्छ हवा में सांस लेने का बुनियादी अधिकार है और कोई भी समाज पर्यावरण की अनदेखी नहीं कर सकता है. दुनिया के 155 देश इस अधिकार को मान्यता देते हैं.

अपने देश में स्वच्छता और प्रदूषण का परिदृश्य वर्षों से निराशाजनक है. इसको लेकर समाज में जैसी चेतना होनी चाहिए, वैसी नहीं है. स्पष्ट है कि यह काम केवल केंद्र अथवा राज्य सरकार के बूते का नहीं है.

अपने देश में स्वच्छता और प्रदूषण का परिदृश्य वर्षों से निराशाजनक है. इसको लेकर समाज में जैसी चेतना होनी चाहिए, वैसी नहीं है. एक बात स्पष्ट है कि यह काम केवल केंद्र अथवा राज्य सरकार के बूते का नहीं है. इसमें जनभागीदारी जरूरी है. केवल सरकार या नगर निगमों के सहारे यह काम नहीं छोड़ा जा सकता है. प्रदूषण मुख्य रूप से मानव निर्मित होता है. इसलिए इसमें सुधार एक सामूहिक जिम्मेदारी है. साथ ही हमारी जनसंख्या जिस अनुपात में बढ़ रही है, उसके अनुपात में सरकारी प्रयास हमेशा नाकाफी रहने वाले हैं. हमें प्रदूषण को नियंत्रित करने के प्रयासों में योगदान करना होगा. बिहार, झारखंड और पश्चिम बंगाल के हमारे अन्य अनेक शहरों की स्थिति भी कोई बहुत अच्छी नहीं है.

स्वच्छता और सफाई के काम को करने में सांस्कृतिक बाधाएं भी आड़े आती हैं. देश में ज्यादातर धार्मिक स्थलों के आसपास अक्सर बहुत गंदगी दिखाई देती है. इन जगहों पर चढ़ाये गये फूलों के ढेर लगे होते हैं. कुछेक मंदिरों ने स्वयंसेवी संस्थाओं की मदद से फूलों के निस्तारण और उन्हें जैविक खाद बनाने का प्रशंसनीय कार्य प्रारंभ किया है. झारखंड के विश्व प्रसिद्ध बासुकीनाथ मंदिर के ऐसे फलों और बेलपत्रों से दुमका जिला प्रशासन ने 'बासुकीनाथ' अगरबत्ती बनाने का काम शुरू किया है. इसके लिए वहां के गांव की महिलाओं को प्रशिक्षित कर उनका 'सखी मंडल' नाम से ग्रुप तैयार किया गया है. इससे जहां इन फूल-बेलपत्रों को इधर-उधर फेंक देने से पैदा होने वाली गंदगी की समस्या खत्म हो गयी, वहीं फूलों का उपयोग भी होने लगा है और गांव की महिलाओं को नियमित रोजगार मिला है. इस ग्रुप में ज्यादातर महिलाएं आदिवासी हैं, जो इससे पहले बदबूदार 'हड़िया' (कच्ची शराब) बेच कर अपने घर चलाती थीं. मंदिर में उपयोग के बाद फेंक दिये जाने वाले फूल-बेलपत्रों से अब उनकी जिंदगी में खुशबू आयी है. इस अगरबत्ती की सालों भर बिक्री होती है और जिला प्रशासन की पहल पर फिल्म निर्माता-निर्देशक महेश भट्ट ने भी इसकी ब्रांडिंग की है. अन्य धर्म स्थलों को भी ऐसे उपाय अपनाने चाहिए. होता यह है कि हम लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करके सुंदर मकान तो बना लेते हैं, लेकिन नाली पर ध्यान नहीं देते और गंदा पानी सड़क पर बहता रहता है. यही स्थिति कूड़े की है. हम रास्ता चलते कूड़ा सड़क पर फेंक देते हैं.

दलील दी जाती है कि बिहार के शहरों के प्रदूषण की एक बड़ी वजह जनसंख्या घनत्व है, लेकिन दुनिया के कई ऐसे शहर हैं जो उच्च जनघनत्व के बावजूद प्रदूषण की मुक्त हैं. सिंगापुर दुनिया का आठवां सबसे अधिक जन घनत्व वाला शहर है, लेकिन अपने बेहतरीन रखरखाव के कारण यह दुनिया का सबसे स्वच्छ शहर है. विदेशी शहरों को तो छोड़े अपने देश में ही देखें कि इस सूची में दक्षिण का कोई शहर शामिल नहीं हैं. बिहार के शहरों के मुकाबले हैदराबाद, बेंगलुरु जैसे शहर आबादी के लिहाज से बड़े हैं लेकिन योजनाबद्ध तरीके से विकास के कारण इन शहरों को प्रदूषण की समस्या से जूझना नहीं पड़ रहा है. लोगों में जब तक साफ सफाई और प्रदूषण के प्रति चेतना नहीं आयेगी, तब तक कोई उपाय कारगर साबित नहीं होंगे. यह चेतना सरकार और समाज को जागृत करनी होगी.

बोधि वृक्ष

कृष्ण की शरण

मनुष्य को वही धर्म स्वीकार करना चाहिए, जिस धर्म से अंततः भगवद्भक्ति हो सके. एक मनुष्य समाज में अपनी स्थिति के अनुसार कोई एक विशेष कर्म कर सकता है, लेकिन यदि अपना कर्म करने से कोई कृष्णभावनामृत तक नहीं पहुंच पाता है, तो उसके सारे कार्यकलाप व्यर्थ हो जाते हैं. जिस कर्म से कृष्णभावनामृत की पूर्णावस्था न प्राप्त हो सके, उस कर्म से भक्त को बचना चाहिए. मनुष्य को विश्वास होना चाहिए कि कृष्ण समस्त परिस्थितियों में उसकी सभी कठिनाइयों से रक्षा करेंगे. इसके विषय में सोचने की कोई आवश्यकता नहीं कि उसका जीवन-निर्वाह कैसे होगा. यह तो कृष्ण की जिम्मेदारी है और कृष्ण ही इसको संभालेंगे. मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आप को निस्सहाय माने और अपने जीवन के लिए कृष्ण को ही अवलंब समझे. पूर्ण कृष्णभावनाभावित होकर भगवद्भक्ति में प्रवृत्त होते ही वह मनुष्य दुख से मुक्त हो जाता है. अध्यात्मवादी कई प्रकार के होते हैं- कुछ निर्गुण ब्रह्म के प्रति आकृष्ट होते हैं, कुछ परमात्मा के प्रति; लेकिन जो भगवान के साकार रूप के प्रति आकृष्ट होता है, वह सर्वोच्च योगी है. अनन्यभाव से कृष्ण की भक्ति गुह्यतम ज्ञान है और संपूर्ण गीता का यही सार है. कर्मयोगी, दार्शनिक, योगी तथा भक्त सभी अध्यात्मवादी कहलाते हैं, लेकिन इनमें से शुद्धभक्त ही सर्वश्रेष्ठ हैं. मनुष्य को यह चिंता होती है कि वह किस प्रकार सारे धर्मों को त्यागे और एकमात्र कृष्ण की शरण में जाये, लेकिन ऐसी चिंता व्यर्थ है. धर्म की विविध विधियां हैं और ज्ञान, ध्यानयोग आदि जैसे शुद्ध करनेवाले अनुष्ठान हैं, लेकिन जो मनुष्य कृष्ण के शरणागत हो जाता है, उसे इतने सारे अनुष्ठानों के पालन की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है. कृष्ण की शरण में जाने मात्र से वह अपना व्यर्थ समय गंवाने से बच जायेगा. इस प्रकार वह तुरंत सारी उन्नति कर सकता है और समस्त पापों से मुक्त हो सकता है. जो व्यक्ति कृष्ण की सुंदर छवि से आकृष्ट होता है, वह भाग्यशाली है.

स्वामी प्रभुपद

पिछले सप्ताह की कुछ जरूरी बातें

रविभूषण
वरिष्ठ साहित्यकार
ravibhushan1408@gmail.com

पिछले सप्ताह सुप्रीम कोर्ट में दो बड़े मामलों- राफेल सौदे और अयोध्या विवाद पर सुनवाई हुई, जिसमें राफेल मामले पर हुई सुनवाई कई दृष्टियों से बेहद महत्वपूर्ण है. आठ फरवरी, 2019 को 'दि हिंदू' अखबार ने राफेल पर जो पहली खोजी रिपोर्ट प्रकाशित की थी, वह पिछले सप्ताह की एक और रिपोर्ट के बाद एक नयी बहस में बदल चुकी है. 'दि हिंदू' ने जो नये दस्तावेज प्रकाशित किये हैं, वे प्रामाणिक हैं. सुप्रीम कोर्ट की पीठ राफेल सौदे के खिलाफ सभी याचिकाओं को खारिज करनेवाले फैसले पर दायर पुनर्विचार याचिका पर सुनवाई कर रही है. 'दि हिंदू' अखबार द्वारा किये गये नये-नये खुलासों के बाद अब सरकार कठघरे में है. पिछले सप्ताह 'दि हिंदू' में प्रकाशित दस्तावेज सुप्रीम कोर्ट को नहीं दिखाया गया था. पिछले सप्ताह महान्यायवादी (अटार्नी जनरल) केके वेणुगोपाल ने सुप्रीम कोर्ट को इन दस्तावेजों को चुराये जाने की बात कही. दो दिन बाद 8 मार्च को उन्होंने उसका अर्थ स्पष्ट किया कि याचिकाकर्ताओं ने अपने आवेदन में मूल कागजात की फोटोकॉपी का इस्तेमाल किया है. महान्यायवादी ने इसका खंडन किया कि रक्षा मंत्रालय से फाइलों की चोरी हुई है. बाद में रक्षा मंत्री निर्मला सीतारमण ने भी वेणुगोपाल की टिप्पणी का स्पष्टीकरण किया कि फाइलों की फोटोकॉपी की गयी है.

रक्षा मंत्रालय से कागजात की चोरी हो या उसकी फोटोकॉपी करायी जाये, यह बेहद गंभीर मामला है. 'दि हिंदू' ने राफेल से जुड़े दस्तावेजों को प्रकाशित कर सरकार के समक्ष संकट खड़ा कर दिया है. महान्यायवादी इन दस्तावेजों को सार्वजनिक करनेवालों को सरकारी गोपनीयता कानून और अदालत की अवमानना कानून के तहत दोषी कह रहे हैं. इस रिपोर्ट को छापने से राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा पहुंचने की बात कही जा रही है और इसे 'आपराधिक मामला' भी बताया जा रहा है. राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा पहुंचने की बात तो दूर है, बड़ा सवाल है कि रक्षा मंत्रालय में फाइलें सुरक्षित क्यों नहीं हैं? वेणुगोपाल ने 'सरकारी गोपनीयता अधिनियम' (ऑफिशियल सेक्रेट एक्ट) के तहत मुकदमा चलाने की भी बात कही है और चुराये गये दस्तावेजों को रिकॉर्ड में न लेने की बात भी कोर्ट से कही है. उन्होंने दो प्रकाशनों और एक वकील के विरुद्ध 'आपराधिक कार्रवाई' की भी बात कही. उसी समय 6 मार्च, 2019 को 'दि हिंदू' प्रकाशन समूह के चेयरमैन एन राम ने कहा था कि राफेल सौदे से जुड़े दस्तावेज जनहित में छापे गये हैं और उन्हें मुहैया करनेवाले गुप्त सूत्रों के बारे में 'दि हिंदू' अखबार से कोई भी व्यक्ति सूचना नहीं पा सकेगा. दस्तावेज इसलिए प्रकाशित किये गये, क्योंकि राफेल सौदे से जुड़े ब्योरे दबाकर और छुपाकर रखे गये थे. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 (1)(ए) के अनुसार एन राम ने खुद को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार से सुरक्षित माना और आरटीआई एक्ट के सेक्शन 8 (ए)(1) और 8 (2) के द्वारा भी सुरक्षित कहा.

एक ओर जनहित है, तो दूसरी ओर राष्ट्रहित और सुरक्षा हित की बात कही गयी है. प्रेस की स्वतंत्रता का प्रश्न भी प्रमुख है. खोजी पत्रकारिता आज कहीं अधिक महत्व रखती है. महान्यायवादी की टिप्पणी की 7 मार्च को 'एडिटर्स गिल्ड' ने निंदा की. पत्रकारों पर स्रोत बताने का दबाव नहीं डाला जा सकता. इसी के बाद 8 मार्च को दस्तावेज के चुराये जाने के अपने पूर्व कथन के विपरीत यह कहा गया कि दस्तावेज की फोटोकॉपी की गयी है. जिस सरकारी गोपनीयता अधिनियम का हवाला दिया गया, उस पर भी हमें ध्यान देना चाहिए, क्योंकि इसका भय दिखाकर पत्रकारिता को मुखर और सत्यनिष्ठ होने से रोकना है. एन राम ने बोफोर्स घोटाले का भी पर्दाफाश किया था. महान्यायवादी ने जिस 'ऑफिशियल सेक्रेट एक्ट' की बात कही है, वह है क्या?

सेवानिवृत्त मेजर जनरल वीके सिंह ने जर्नल 'द युनाइटेड सर्विस इंस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया' की संख्या 575 (जनवरी-मार्च 2009) में 'द ऑफिशियल सेक्रेट एक्ट 1923 : ए ट्रबल्ड लेगेसी' शीर्षक से अपने लेख में विस्तार से इस एक्ट पर विचार किया है. ब्रिटिश सरकार ने अपनी सत्ता कायम रखने और अपने काले कारनामों को छुपाने के लिए यह कानून बनाया था. स्वतंत्र भारत में अनेक ब्रिटिश कालीन कानून मौजूद हैं, जिनमें एक यह भी है. कई आयोगों और समितियों ने समय-समय पर इस कानून को समाप्त करने की सिफारिशें की थीं, पर स्वतंत्र देश की सरकारों ने इसे समाप्त नहीं किया. साल 1952 में 23 सितंबर को न्यायमूर्ति जीएस राजाध्यक्ष की अध्यक्षता में गठित प्रथम प्रेस आयोग ने भी इस कानून को 'साम्राज्यवादी परिपाटी की कड़ी' कहा था और समाप्त करने की सिफारिश की थी. द्वितीय प्रेस आयोग के प्रमुख सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायाधीश केके मैथ्यू ने भी 80 के दशक के आरंभ में इसको समाप्त करने की सिफारिश की थी. नेहरू, इंदिरा गांधी, अटल बिहारी वाजपेयी किसी ने भी यह कानून समाप्त नहीं किया. यह एक औपनिवेशिक कानून है, जिसकी स्वतंत्र भारत में कोई आवश्यकता नहीं है. वेणुगोपाल ने 'दि हिंदू' में प्रकाशित राफेल रिपोर्ट पर इसी कानून की बात कही है.

राष्ट्रीय सुरक्षा की आड़ में सरकार इस कानून का इस्तेमाल नहीं कर सकती. यह लोकतंत्र विरोधी कानून है. इसके जरिये प्रेस को नियंत्रित करने की पहल पूरी नहीं हो सकेगी. एन राम और 'एडिटर्स गिल्ड' ने अपना रुख स्पष्ट कर दिया है. पत्रकारों में डर पैदा नहीं किया जा सकता. देश बड़ा है. यहां निर्भीक और साहसी पत्रकार अब भी हैं.

राष्ट्रीय सुरक्षा की आड़ में सरकार ऑफिशियल सेक्रेट एक्ट का इस्तेमाल नहीं कर सकती. यह लोकतंत्र विरोधी कानून है. पत्रकारों में डर पैदा नहीं किया जा सकता. देश में निर्भीक और साहसी पत्रकार अब भी हैं.

आपके पत्र

मध्यस्थता पैनल की कड़ी चुनौती

अयोध्या जमीन विवाद को लेकर सर्वोच्च न्यायालय ने मध्यस्थता का फॉर्मूला अपनाया है, वह उचित है. इसके लिए तीन सदस्यीय पैनल बनायी गयी है, जिसकी अध्यक्षता सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश एफएम कलीफुल्ला कर रहे हैं. उनके साथ आध्यात्मिक गुरु श्री श्री रविशंकर और वरिष्ठ वकील श्रीराम पंचू को भी मध्यस्थ पैनल में शामिल किया गया है. कोर्ट का मानना है कि दो महीने में सभी पक्षों की आपसी सहमति से ही राम मंदिर विवाद का हल निकाला जा सकता है और इससे समाज के किसी भी वर्ग को कोई परेशानी नहीं होगी. लोकसभा चुनाव में अब कोई भी राजनीतिक पार्टी इस मुद्दे पर राजनीति कर वोट नहीं बटोर सकती. एक तरह से मध्यस्थता टीम के लिए यह एक कठिन चुनौती है. चूंकि विषय कानूनी प्रक्रिया के साथ-साथ आस्था और विश्वास का है तो मध्यस्थता टीम को बड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ सकता है. उम्मीद है कि टीम इस बार सकारात्मक परिणाम कोर्ट को सौंपेंगे.

शुभम गुप्ता, नावागढ़, धनबाद

नीयत पर सवाल खड़े न हों

कहते हैं बार-बार बोला गया झूठ भी सच लगने लगता है. खबरों की खिड़कियों पर अफवाहों के कैक्टस उगेंगे, तो सवालों के कांटे चुभेंगे ही. बेशक बालाकोट पर जवाबी कार्रवाई में बिखरी लाशें गिनना फौज का काम नहीं है. फिर भी सियासत के आसमान में अफवाहों के परिंदे उड़ेंगे, तो लोग पूछेंगे. जमीन अपनी हो या परायी, जब से होश संभाला है, नदियों में नाव पलटने से लेकर आसमानी हादसों तक हलाक हुए लोग हर बार गिने गये हैं. निशाना ठिकानों पर लगे, तो सजा कितने दहशतगर्दों को मिली, यह बताने में हर्ज भी क्या है? बेशक हम चुन-चुन कर दहशतगर्दों को ही मारने गये थे, वरना हमारी दुश्मनी ईंट-पत्थर की दीवारों से तो नहीं थी. सच का सबूत मांगना जमाने का पुराना दस्तूर है. हमारी फौज की बहादुरी के चर्चे जरूर हों, मगर राजनीति इस कदर न हो कि नीयत पर सवाल खड़े हो जाएं.

एमके मिश्रा, रातू, रांची

नागरिक चेतना की कमी है

स्मार्ट सिटी योजना के तहत राजधानी रांची में तीन मार्च से शुरू की गयी साइकिल शेयरिंग सेवा की कुछ असामाजिक तत्व धज्जियां उड़ा रहे हैं. वे लोग साइकिल को लेकर क्षतिग्रस्त रहे हैं. स्मार्ट सिटी योजना के तहत वर्तमान सरकार कदम उठा रही है, मगर हमारे ही शहर के कुछ लोग उस कदम में बाधक बन गये हैं. किसी जिले को स्मार्ट बनाने से पहले उस जिले में रह रहे निवासी को उसके योग्य बनाना भी जरूरी है. किसी भी जिले की आधी से ज्यादा आबादी में सिविक सेंस नहीं होता और यह सिविक सेंस सिर्फ पढ़ने से नहीं, बल्कि घर के संस्कारों से भी आता है. झारखंड राज्य में रांची को सबसे विकसित और शिक्षित जिले के रूप में देखा जाता है, परंतु चंद लोगों के के कारण पूरे जिले की बदनामी हो रही है. सरकार को इन लोगों की शिनाख्त कर इन पर कार्रवाई करनी चाहिए.

अभिषेक मोहन, रांची

कुछ अलग

अक्ल से परे के संबंध

आलोक पुराणिक
वरिष्ठ व्यंग्यकार
puranika@gmail.com

मद्रास उच्च न्यायालय ने केंद्र और राज्य सरकार से पूछा है कि क्या टीवी धारावाहिकों के चलते विवाह से परे संबंधों को बढ़ावा मिल रहा है. न्यायालय ने इस संबंध में विशेषज्ञों की एक शोध समिति के गठन का सुझाव भी दिया है. विवाह के परे के संबंधों का ताल्लुक टीवी धारावाहिकों से क्या है, इसका पूरा शोध हो जाये, तो कई सवालों के जवाब मिल जायेंगे. वैसे टीवी धारावाहिकों और फिल्मों में यह लिखकर आता है कि इनके सभी पात्र, घटनाएं वगैरह काल्पनिक हैं, उन पर यकीन ना करें. जैसे कोई पात्र तमाम टीवी धारावाहिकों और फिल्मों में बहुत ही संस्कारी दिखते हैं. पर उनके संस्कार काल्पनिक हैं, ऐसा उन पर लगे कई मीटू वाले आरोप बताते हैं.

विवाह से परे संबंधों का टीवी से रिश्ता-इस पर शोध हो, पर अक्ल से परे के संबंधों का टीवी से क्या रिश्ता है, इस पर तो जरूर शोध होना चाहिए. टीवी दर्शक भूतों को ज्यादा पसंद करते हैं या विवाह से परे संबंधों को. चैनल आये दिन बताते रहते हैं कि फलां किले में भूत हैं. फलां सड़क पर रात को बारह बजे भूत आता है. लोग देखे जाते हैं, देखते ही जाते हैं. कई टीवी सीरियल आकर निकल लिये, पर भूतों की टीआरपी ना खत्म हुई. बड़ी-बड़ी अभिनेत्रियों की लोकप्रियता खत्म हो गयी, पर भूत कतई वैसे ही लोकप्रिय बने हुए हैं, जैसे कई सालों पहले थे. भूतों की लोकप्रियता का राज क्या है, इस पर एक कमेटी बननी चाहिए. भूतों पर जनविश्वास कम ना हो पाये, तो जनहितकारी भूतों को बढ़ावा देने के प्रयास होने चाहिए.

कुछ मामले कई बार समझ में नहीं आते. जैसे कि जनता अपने नेताओं का भरोसा नहीं करती है, पर भूतों का भरोसा कर लेती है.

शोध समिति जब विवाह से परे संबंधों के अध्ययन करेगी, तो पक्का है कि बाद में इनकी रोकथाम के लिए भी कोई अभियान छेड़ा जायेगा. भविष्य में विवाहेतर संबंधों की रोकथाम से जुड़े विज्ञापनों का स्कोप दिख रहा है. कई रोजगारों का सृजन भी होगा. विवाहेतर संबंध रुक पायेंगे या नहीं, यह अलग विषय है, पर रोजगार-सृजन तय है. एकता कपूर के सीरियल दिखा रहे होंगे कि राहुल ने संजना का साथ छोड़कर रीटा का हाथ थामने की कोशिश की, पर रीटा पहले ही विवान के साथ जा चुकी थी, विवान संजना का दूसरा प्रेमी था. इस सीरियल के ब्रेक में इश्तिहार आयेगा- दिल पर रखें काबू, वरना ठुकेंगे बाबू.

मल्टी-अफेयरवान सीरियल भी रोजगार पैदा करेंगे और उन्हें रोकने को प्रतिबद्ध इश्तिहार भी रोजगार पैदा करेंगे. सरकारें ऐसे रोजगार पैदा करने में एक्सपर्ट होती हैं. शराब से कितनी आय बढ़ानी है, यह टारगेट तय करके उन्हें हासिल करने में बहुतों को रोजगार मिलता है, फिर शराबबंदी के इश्तिहार तैयार करने में बहुतों को रोजगार मिल जाता है. सरकार शराब से कमाती है, फिर उससे हासिल रकम का एक हिस्सा शराबबंदी के इश्तिहारों में खर्च करके डरती भी है कि कहीं इन इश्तिहारों का असर सच में ही ना हो जाये.

देश दुनिया से

यूरोपीय महिलाओं के प्रति हिंसा में उभार

ऑर्गनाइजेशन फॉर सिक्योरिटी एंड कोऑपरेशन इन यूरोप (ओएससीई) ने महिलाओं की स्थिति से जुड़ी एक रिपोर्ट बताया है कि महिलाओं के खिलाफ बड़े पैमाने पर हिंसा की जा रही है. रिपोर्ट के लिए पूर्वी यूरोपीय देशों की 18-74 साल की उम्र की तकरीबन 15 हजार महिलाओं को शामिल किया गया था. लगभग 70 फीसदी महिलाओं का कहना था कि वे 15 साल की उम्र से ही किसी न किसी प्रकार की हिंसा झेल रही हैं, जबकि 30 फीसदी महिलाओं ने बताया कि उनके साथ ऐसी घटनाएं पिछले एक साल के दौरान हुई हैं. रिपोर्ट के अनुसार, 23 फीसदी महिलाओं को किसी करीबी ने ही शारीरिक व यौन हिंसा का शिकार बनाया था, वहीं 18 फीसदी महिलाओं के साथ ऐसा करनेवाले अनजान लोग थे. महिलाओं की 31 फीसदी आबादी के साथ शारीरिक हिंसा करने वाले लोग उनके परिवार से ही जुड़े हुए थे. वहीं, 60 फीसदी महिलाएं अपने पार्टनर के कारण मनोवैज्ञानिक हिंसा का शिकार हुई हैं. किसी भी तरह की हिंसा का शिकार महिलाओं में ज्यादातर गरीब तबके की हैं. महिलाओं और लड़कियों के साथ होनेवाली हिंसा मानवाधिकारों का हनन है और महिलाओं व लड़कियों की सुरक्षा के लिए बड़ा खतरा है.

- ओएससीई

कार्टून कोना

साभार : कार्टूनमूवमेंटडॉटकॉम

पोस्ट करें : प्रभात खबर, 15 पी, इंडस्ट्रियल एरिया, कोकर, रांची 834001, **फैक्स करें** : 0651-2544006,
मेल करें : eletter@prabhatkhabar.in पर ई-मेल संक्षिप्त व हिंदी में हो. लिपि रोमन भी हो सकती है

The cure for HIV

There are just two cases where the killer disease appears to have been cured. Researchers are also looking for other genes that can block HIV

TECH-ENABLED

DEVANGSHU DATTA

It's been almost 40 years since AIDS was first identified circa 1981. There are just two cases where the killer disease appears to have been cured. Although the second case has not yet been declared a definitive cure, it is described as a "proof of concept" AIDS can be cured.

The disease is caused by the Human Immunodeficiency Virus (HIV), which attacks the immune system. HIV takes over and kills a type of white blood cell, CD4 T-cells, which protect the body from infection. HIV inserts itself into the cell and replicates, spreading through the body.

HIV is transmitted via exchange of body fluids. Once a person is HIV-positive, meaning the virus is in the system, that person may survive without symptoms for many years. Once the immune system is shut down, the infected person has full-blown AIDS and is vulnerable to all infections. Most AIDS victims die of cancer, pneumonia, and other diseases.

About 40 million people are estimated to have died as a consequence of AIDS, and another 35-40 million HIV-positive people are estimated to be currently surviving. Close to 1 million deaths per year are still being recorded, and about 2 million new infections occur every year. That's an improvement over the early 2000s, when over 2 million were dying every year.

It would be no exaggeration to say that HIV changed global social and sexual mores. It literally decimated Southern Africa with over 10 per cent of the population infected in several countries. Anti-retroviral (ARV) drugs can suppress the disease and allow indefinite periods of survival. But ARVs don't eradicate the virus. ARVs destroy cells in which HIV is actively replicating, but HIV can go into hiding, stop replicating, and remain dormant until the ARV therapy stops. Then, HIV returns.

The first "cure" was found in 2007. Timothy Ray Brown, an American living in Berlin, was HIV-positive and under treatment for leukaemia. Leukaemia causes an abnormal increase in white blood cells. Blood cells are produced by bone marrow. Leukaemia treatment can involve bone marrow stem cell transplants from a healthy person. This helps regenerate healthy blood, and create a new immune system. Bone marrow transplants are dangerous — the patient's immune system must be destroyed, prior to the transplant.

A few people possess a mutated gene called CCR5 Delta 32, which offers natural immunity to HIV. This is a rare mutation, found only in some northern Europeans. The normal CCR5 gene, which most people possess, is used by HIV to enter T-cells. HIV cannot use the Delta-32 mutated gene and cannot replicate in a host with two copies of the CCR5 Delta 32 gene (one inherited from each parent). Even one copy of Delta 32 seems to offer protection. Only about 1 per cent of northern Europeans possess a genome with both copies.

Brown's doctors at the Charite University Medicine Berlin, Kristina Allers and Gero Hutter, found a compatible donor with a Delta-32 mutation. Twelve years after the marrow transplant, the "Berlin Patient", as Brown is called in medical journals, remains HIV-free, and living normally.

A similar approach was tried with the "London Patient", by doctors at University College London (UCL) and Imperial College London, together with teams from Cambridge and Oxford. The patient was diagnosed with HIV infection in 2003 and on ARV therapy. In 2012, when he was diagnosed with another cancer, Hodgkin's Lymphoma. The team was led by Dr Ravindra Gupta.

In 2016, after chemotherapy, the patient was given a bone marrow stem cell transplant from a donor with two copies of Delta-32. As of now, according to reports from the University of Cambridge, he remains free of HIV, 18 months after ARV was discontinued and three years after the stem cell transplant. Given the long periods, HIV has been known to go into dormancy, the doctors are cautious about calling this a cure, yet.

But it does indicate that therapy based on swapping out CCR5 genes can work. Both patients were in desperate straits with AIDS and cancer and this approach of nuking the immune system via chemotherapy and then transplanting a mutated CCR5 gene is life-threatening in itself (apart from being expensive and complex). Compatible donors may also be difficult to find.

But these two cases offer hopes of finding less dangerous means of putting immunising genes into HIV-positive patients, via genetic engineering. The recent experiment where Chinese scientist, He Jiankui, genetically modified twins, Nana and Lulu, was one such attempt to change CCR5. Researchers are also looking for other genes that can block HIV. After many years, there's hope that HIV could be eliminated.

CHINESE WHISPERS

Turmoil in Congress state units

All is not well with the Congress party's state units. Many are upset in Karnataka that the party is willing to surrender eight to nine Lok Sabha seats to the Janata Dal (Secular), and some have even threatened to join the Bharatiya Janata Party, and be fielded against Congress candidates, including senior party leader Mallikarjun Kharge. Similarly, Maharashtra Congress legislative party leader Radhakrishna Vikhe Patil is unhappy that the party might surrender the Shirdhi Lok Sabha seat to the Left parties. In Haryana, former chief minister Bhupinder Singh Hooda has threatened to float a new party if he continues to be ignored by the party's top leadership.

Will Sonia intervene?

The Congress top leadership is keen to have an alliance with the Samajwadi Party and Bahujan Samaj Party in Uttar Pradesh. Emissaries have been sent but the leadership of the two parties has interpreted the despatch of junior leaders to mediate as a sign that the Congress is not serious. Senior Opposition leaders, including N Chandrababu Naidu, Sharad Pawar and others, are hopeful that United Progressive Alliance Chairperson Sonia Gandhi *(pictured)* will — sooner rather than later — intervene to finalise alliances not just in Uttar Pradesh but also in Delhi with the Aam Aadmi Party since several party leaders, including Delhi unit chief Sheila Dikshit, are unwilling to listen to Congress President Rahul Gandhi.

When Modi became 'daddy'

The political equation between the All India Anna Dravida Munnetra Kazhagam (AIADMK) and Bharatiya Janata Party (BJP) seems to have changed 180-degrees since AIADMK supremo J Jayalalithaa's death. In March 2016, Union Minister Piyush Goyal came down heavily on the AIADMK leadership (read Jayalalithaa), saying Tamil Nadu was "a state within a state". Fast forward to 2019, and Goyal can be heard waxing eloquent about Jayalalithaa's pro-poor initiatives and calling her a "true nationalist". Then there is State Minister for Milk and Dairy Development K T Rajenthra Bhalaji, who has just labelled Prime Minister Narendra Modi the "daddy" of Tamil Nadu. When reminded that *Amma* — as Jayalalithaa was popularly called — never agreed to an alliance with Modi, Bhalaji retorted, "When Amma is not there Modi is our daddy; India's daddy."

How much is a pvt bank CEO worth?

To protect the existing CEO salary, banks have to raise the fixed part of remuneration, which negates the very purpose of the regulator

BANKER'S TRUST

TAMAL BANDYOPADHYAY

The CEOs of private and foreign banks in the world's fastest growing major economy are a sulking lot these days as India's banking regulator is planning to downsize their remuneration. Those who always feel these bankers earn a lot, particularly in comparison to their counterparts in government-owned banks, some of which have much larger balance sheets, are watching them with voyeuristic glee.

Under India's Banking Act, private and foreign lenders always need regulatory approval for the remuneration of whole-time directors and CEOs and the Reserve Bank of India (RBI) has not exactly been liberal in its approach. Still, they manage to earn a decent (some say indecent) sum through stock options, which have been outside the remuneration package.

Now, the RBI wants to include shares and options within the variable salary of the CEOs, proposed to be capped at 200 per cent of their fixed salary; the floor for it is 50 per cent. Also, at least half of the variable pay must be in the form of non-cash. At the moment, the variable pay of the bank CEOs is capped at 70 per cent and there is no floor for it.

Simply put, under the new plan, if a bank CEO gets a fixed salary of say ₹1 crore a year, the variable portion can vary between ₹50 lakh and ₹2 crore, inclusive of shares or stock options that would be at least half of it.

Going by the proposal, at least 60 per cent of the total variable pay must be deferred for a minimum of three years. Also, there should be a clawback agreement forcing a CEO to return already-paid remuneration under certain circumstances as well as malus, denying the CEO deferred remuneration if the bank is not disclosing bad assets and setting aside money for them. The RBI also wants the banks to identify the so-called material risk takers or MRTs among the senior employees whose actions have a bearing on a bank's performance.

No one can find fault with the latest initiative of the regulator when bankers' compensation issue is at the centrestage of the regulatory reforms, globally. If at all, the RBI could have looked into this much earlier as a few Indian private banks have not exactly been reverent about corporate governance.

The plan to deny the bank CEOs full remuneration through the exercise of the claw back and malus clauses if they jeopardise a bank's health by taking excessive risks or hiding bad assets is welcome. Similarly, identification of MRTs for special treatment, on the line of the UK regulator Financial Services Authority's focus on persons of significant influence, is also welcome. However, if the regulator takes upon itself the job of structuring the CEO's salary to the last detail, what is the remuneration committee of a bank's board for?

How are banks expected to react to this? They are likely to raise the fixed component of a CEO salary. My understanding is that to protect the existing compensation, some private banks will have to raise the fixed salary of their CEOs by as much as 50 per cent. This is what the CEOs of European banks have done.

This negates the very purpose of the regulator as a more assured payment protects a large chunk of remuneration even if a CEO is taking excessive risks! Besides, it can also breed complacency and inefficiency and discourage the strive for excellence at the top job. Of course, this thesis is based on the presumption that the RBI does not plan to do both — overseeing the composition of the compensation package as well as fixing the absolute sum.

How does one value the stock options? If a CEO gets vanilla shares in the form of restricted stock units, it is easy to value them as the executive enjoys the economic benefit of an entire share of stock but in the case of an ESOP, an employee has the option to purchase stock of a company at a future date at a predetermined price. If the market price of the stock is above the procurement price, the employee stands to gain by selling it off but if it is below the agreed price level, the employee will not exercise it.

Indeed, there is a formula for calculating the fair value of an option but the market performance of Indian private banks is not uniform. For instance, an HDFC Bank employee has always been in the money as the stock has been consistently doing well but ICICI Bank employees have hardly made any money in past few years and Yes Bank stock has lost 40 per cent in the past seven months. Also, if a stock is doing well, shouldn't the CEO be compensated handsomely as this is a testimony to the manager's great work?

In November 2018 India's second-largest tyre maker Apollo Tyres' promoters Onkar Kanwar and his son Neeraj were forced to accept a 30 per cent pay cut following minority shareholders' rejection of Neeraj's re-appointment as managing director at the company's annual general meeting amid claims of high compensation and moderating financial performance.

Ultimately, the board and the investors should take the call on a CEO salary; if or when the board is compromised, the RBI should step in. Also, the size of balance sheet alone cannot determine compensation; the challenge and complexity of the job should also be factored in.

Stock offerings have turned many professionals into entrepreneurs in India, created fine banks and revived falling ones. While there must be disincentives for excessive risk takers and punishment for those who do not believe in good governance, the regulator must assure the performers that they don't need to worry. Otherwise, the best bankers may migrate to greener pastures — the non-banking finance companies, insurance firms and even FMCG and infotech sectors.

Incidentally, the compensation structure of the CEOs of India's public sector banks needs to be recast without delay, if we care for performance. It needs to be delinked from bureaucrats' salary. And, the ESOP proposals of at least two such banks have been lying with the finance ministry for years now. Has anyone heard on this?

The columnist, a consulting editor with Business Standard, is an author and senior adviser to Jana Small Finance Bank Ltd. Twitter: @TamalBandyo

INSIGHT

NIIF gets aggressive

However, it must proceed with caution

JYOTI MUKUL

The youngest among financing institutions created by the government, the National Infrastructure and Investment Fund (NIIF), has adopted a different approach to go about its business. Operationalised through a private company of the same name in 2015, it is advancing more aggressively than many such institutions created earlier.

In contrast to financial institutions of the past, NIIF has been conceptualised to monetise infrastructure assets and channelise sovereign funds of other countries into India. The idea of monetisation in itself is new since traditionally promoters or operators are expected to remain invested in their projects. But just as promoters of start-ups look to rake in money through exits after creation of value out of their initial investment, the monetisation of assets creates value and frees up invested money, whether equity or debt, for investment elsewhere. At the same time, such an approach fills in for bank funding where sectoral limits have been reached.

The history of India's industrialisation and infrastructure building has shown whenever there is need for investment and the private sector does not have the bandwidth, the government pitches in with its own institutions for manufacturing, building and even financing. The funding to spur industrial and infrastructure activity comes not just from the government's capital spending but also from these institutions created by it outside its set-up.

So, while a lot of public sector companies were set up to meet the demands of a growing economy, institutions like IFCI created way back in 1948, IDFC in 1997 and even the currently troubled IL&FS set up in 1987 gave the required financial push. In the absence of a vibrant bond market, these institutions along with the Power Finance Corporation and Rural Electrification Corporation continued to pitch in with money for industrial as well as infrastructure project lending. Bank loans, however, continued to dominate the space even after the UPA government created the Infrastructure Finance Company Ltd in 2006 to provide long-term finance.

The difference in NIIF's approach not just comes from the newer concepts of monetisation and taping of sovereign funds, but also in the way it is investing in ports, renewable energy companies and airports. Since Abu Dhabi Investment Authority (ADIA) is a partner in NIIF, its first investment was in partnership with Dubai Ports in a $3-billion equity platform, Hindustan Infralog, focused on ports, terminals, transportation and logistics businesses in India.

Similarly, NIIF's Green Growth Equity Fund (GGEF), created in partnership with UK's development finance institution CDC, bought stake in Ayana, a renewable energy platform promoted by CDC.

Apart from instruments like HDFC's Affordable Real Estate Fund and the acquisition of IDFC Infrastructure Finance that gave it a take-off point for debt funding in the infrastructure space, NIIF is also looking at the aviation sector. It made a failed attempt at acquiring the rights to develop and operate four Indian airports out of six, bidding for which closed last month. NIIF had reportedly tied up with Zurich Airport and is looking to invest in overseas airports.

At the same time, there are reports of NIIF's possible participation in the beleaguered Jet Airways. The fact that ADIA is a partner in NIIF is again crucial here since Etihad Airways, a UAE airline, is a 24 per cent equity partner in Jet. ADIA funding through NIIF could bring for Etihad the crucial say in the running of India's second largest airline since, Etihad, a foreign entity, on its own cannot hold a majority stake in Jet.

NIIF's ambition for both the airports and an airline might be a case of thinking big but it is evident that UAE's own interest is setting the course for the fund. Besides, it points towards digression from the initial purpose of bringing in fresh money and helping in the monetisation of assets. This is more so, if it invests in Jet Airways since going by the definition of infrastructure, services like airlines or telecom companies, do not constitute infrastructure. Airports and other such static public assets, like telecommunication towers, are part of infrastructure.

The confidence that ADIA and CDC bring to NIIF might give it an advantage over other domestic institutions. However, it must proceed with caution.

LETTERS

US can't ignore India

This refers to "Despite US sanctions, tea firms bullish on Iran exports" (March 9). The currency exchange and trade sanctions by one country alone does not determine the flow of international trade. International trade is on the basis of demand and supply and political stand-offs cannot completely shut down these economic movements. Although Iran faces shortage of US dollars, trade with India in respective currencies at a predetermined rate can partially compensate for exchange conversion losses of the two countries.

The shortage of US dollar reserves with Iran affects its trade with Sri Lanka that continues to maintain the dollar exchange rate. This is despite their competitive quality of tea, a situation India can capitalise on. Iran's export of oil to India is reciprocated by its import of Indian tea, rice and medicines. However, international trade is also governed by a political agenda involving the US and India. The US can only threaten but cannot afford to impose trade and currency sanctions on India as its trade relations with us bolster its economy both at the industrial level and at the services level. It cannot afford to block the oil trade between Iran and India whether directly or indirectly. Indian tea exports to Iran are also routed through Russia and the UAE.

Finally, the US government policy is commercially oriented. This explains the uninterrupted increase in Indian tea exports and our uninterrupted oil imports in foreign trade without US intervention.

C Gopinath Nair Kochi

A lot needs to be done

Apropos your front page report "BS Insurance Round Table: 18% GST on premium is brutal, says Irdai member" (March 8). One must salute the Insurance Regulatory and Development Authority of India (IRDAI) member Nilesh Sathe for his blunt, forthright no holds barred comments on the "brutal 18 per cent GST on insurance premium".

He is spot on when he says that India accounts for a pathetic 1.5 per cent of the world's total insurance premium. For a country that accounts for over 15 per cent of the world population — and aspires to be a super power — this makes us a grossly under-insured nation and consequently, a nation that just doesn't have adequate internal savings to fund its ambitious infrastructure development plans. Insurance funds worldwide support infrastructure building and so should they in India.

There is immense headroom in the sector and the increasing cost of health care demands that more and more people have adequate insurance cover. That health premium has grown at a robust 25 per cent year-on-year over the last five years is proof that the sector offers huge scope for expansion. Increased life expectancy may not be entirely due to health insurance awareness and yet it is a fact that we need much greater insurance penetration in the country.

Clearly a lot needs to be done — besides exempting premium from GST or at least taxing it at a very low rate — in our insurance sector.

Krishan Kalra Gurugram

No place for hate

The government needs to wake up from its slumber. After the unfortunate Pulwama attack where more than 40 CRPF personnel were killed, there were series of attacks on and intimidation of Kashmiri people. More than 50 incidents of physical attacks, threats and intimidation have been reported across the nation, with the latest report saying two Kashmiris were assaulted in Lucknow by right-wing men. Some have even suggested that those who can enforce order were deliberately kept at a distance to ensure such incidents continue to happen and create polarisation. Under this difficult situation, support was lent by Sikh groups in Punjab who ensured safe passage, food and lodging to hundreds of Kashmiri students. This clearly shows where the government fails, people can succeed in reaffirming faith in the fundamental unity of all religions. Leaving aside the Lok Sabha election, the government should now take stringent action against those resorting to hate campaign and violence.

S K Khosla Chandigarh

Letters can be mailed, faxed or e-mailed to:
The Editor, Business Standard
Nehru House, 4 Bahadur Shah Zafar Marg
New Delhi 110 002
Fax: (011) 23720201 · E-mail: letters@bsmail.in
All letters must have a postal address and telephone number

HAMBONE

Business Standard
Volume XXIII Number 148
MUMBAI | MONDAY, 11 MARCH 2019

Quicker transmission

SBI does a first, opens new window

The State Bank of India's (SBI's) decision to link its savings deposit rate and pricing of short-term loans to the repo rate is a prudent move because it is expected to enable a quicker transmission of interest rates. For long, successive cuts by the Reserve Bank of India (RBI) of its key policy rate have not been passed on in equal measure to borrowers, and the reason for this is banks have not been in a position to reprice their deposits all at once. So far, banks have been linking interest rates to their own cost of funds.

The country's largest bank has voluntarily linked the interest rate it offers on savings bank deposits of over ₹1 lakh to the repo rate, which now stands at 6.25 per cent. Starting May 1, savings deposits will earn interest at 2.75 percentage points below the repo rate. The share of such deposits as a percentage of SBI's total deposits is significant at 33 per cent; in effect, the bank will now price this corpus of its deposits on a floating-rate basis. On the lending side, cash-credit accounts and overdrafts over ₹1 lakh have also been welded to the repo rate plus a spread of 2.25 per cent. The threshold of ₹1 lakh on both the deposit and lending side is to ensure that smaller savers and borrowers are not penalised — due to cut in the repo rate in the case of former, and a hike in the case of the latter. It is now near-certain that other bigger banks will follow suit as they can improve and reduce the volatility in their interest margins.

What needs to be seen is just how mutual funds and insurance companies react to this measure. In the recent past, banks' retail-term deposits have not grown as fast as before, especially after the huge one-off surge seen in the post-demonetisation phase. A good chunk of those who were earlier retail-term depositors now opt to invest in physical assets — housing and gold; and in offers from both mutual funds and tax-saving insurance schemes. This is a key reason why banks' reliance on borrowings (non-deposits), in general, went up by over 30 per cent in FY18 from just 11 per cent in the preceding year. While current and savings bank deposits (Casa) continue to account for 42 per cent of total deposits, it remains to be seen how larger investors in them now react after a cut in the repo rate. This was the key reason why banks were also reluctant to cut deposit rates — be they on savings or retail-term. Some also say that the move may face some resistance from depositors at a time when the inflation trend is downward, and it would have been better to wait for a cycle where interest rates are going up so that customers get used to the structure.

But successive RBI governors have grappled with the issue of the weak transmission of interest rates by banks. All previous efforts targeted the lending side of the game — be it the base-rate regime or marginal cost-based lending rate. The trouble was that it did not address the fact that only new borrowers stood to gain, and in any case, the issue of stubborn deposit rates was not tackled at all. SBI's voluntary move has opened a new window.

Open offer pain

New norms may lead to fewer players in bankruptcy resolution

The Securities and Exchange Board of India (Sebi) has tightened the norms for open offer exemptions in cases of debt restructuring. Only lenders such as banks and financial institutions will receive exemptions from open offers when taking over a company under the Insolvency and Bankruptcy Code (IBC). This is aimed at giving minority shareholders a fair deal in takeovers. But it could also cause some impediment to the process of disposing of bankruptcy cases since it raises costs for asset reconstruction companies (ARCs), or "white knights". Under normal circumstances, the Sebi Takeover Code demands that when an entity acquires 25 per cent of the equity of a listed company, it makes an open offer for a further 26 per cent of equity. This provision allows minority shareholders to exit if they so choose, and, in practice, an open offer usually leads to a rise in the share price, which is beneficial for minority shareholders. An open offer may raise the cost of debt recovery considerably for lenders in bankruptcy cases and, therefore, Sebi has offered an exemption in such cases. In bankruptcy situations, it is a common strategy for lenders to convert some portion of the debt into equity. If the equity holding exceeds the 25 per cent threshold, it could trigger the open offer mechanism without the exemption.

The earlier norms allowed for wide-ranging exemptions from the obligations of making open offers in bankruptcy cases. The new norms will allow lenders to convert unpaid debts into equity in the hope of recovering their dues if the company turns around. But this exemption will no longer apply to non-lenders and it will apply only in IBC cases that have come to court and not in cases of corporate debt restructuring, where lenders have worked out a deal. It is also common for existing shareholders other than the promoter to act as white knights by investing in a stressed business in return for higher equity stakes. In a case like the proposed Jet Airways bailout, lenders such as the State Bank of India-led consortium may receive exemptions if Jet Airways comes to the IBC. But white knights like Etihad will not receive exemptions. This could scuttle the bailout.

An enforced open offer could raise the cost of debt reconstructing considerably in many cases. It could, therefore, make the entire business of asset reconstruction unviable. ARCs can play major roles in resolving bankruptcies. ARCs may buy debt from the lenders at a deep discount and look to convert that into equity. Or, they may seek to buy equity directly. Any ARC must now reckon on the cost of a potential open offer and this could mean the exit of many ARC players.

As such, while the tightening of the open offer code may, in theory, be beneficial to minority shareholders, it could, in practice, mean fewer players in the bankruptcy resolution space. That would imply fewer resolutions and slower movements for IBC cases. It also casts a cloud over the concept of debt restructuring outside the ambit of the IBC since those bailouts would trigger the open offer provisions.

ILLUSTRATION BY AJAY MOHANTY

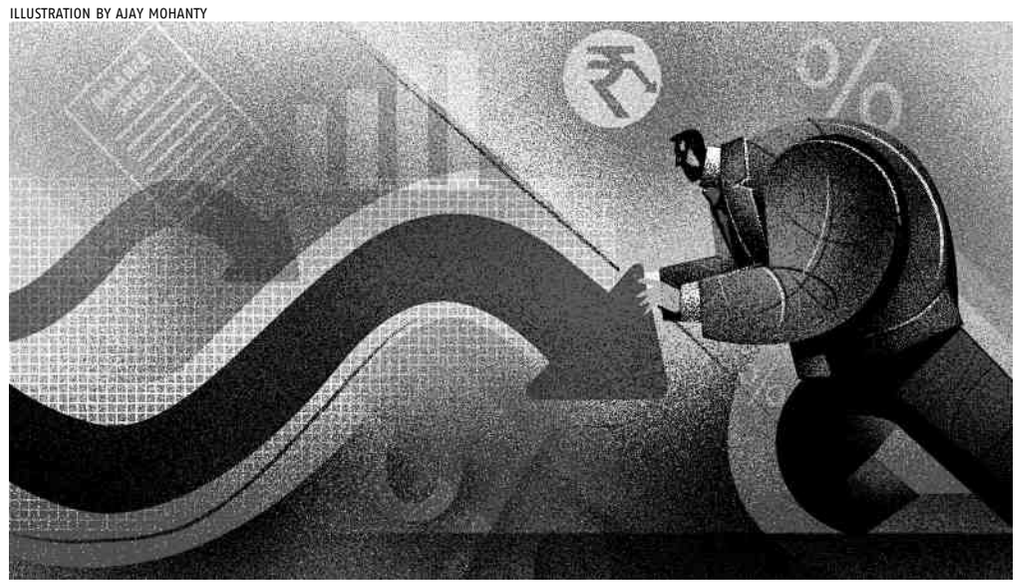

The new world of 4% inflation

Business building will be put on better foundations when we fully adapt the assumptions underlying financial analysis to the new low-inflation environment

SNAKES & LADDERS

AJAY SHAH

From 2015 onwards, the RBI has committed to delivering year-on-year CPI inflation of 4 per cent. Most of the discussion on inflation targeting has emphasised how low and predictable inflation stabilises the macroeconomy. Expectations of stable 4 per cent inflation change many things about how we plan for the future. In this article, we show implications for wage hikes, borrowing, public finance, rupee depreciation, corporate investment and fund management.

The new world of low inflation: A long inflation crisis began in February 2006. The policy community was persuaded that institutional reform of monetary policy was required, which led up to the Monetary Policy Framework Agreement (MPFA), signed on February 20, 2015. The RBI has been transforming itself to deliver on the transparent single-objective of 4 per cent inflation. So far, the points of pain have been inflation that is too low, not too high.

It now looks likely that the RBI will succeed in delivering inflation in the region of 4 per cent all the way to February 20, 2020, thus giving a full five years' performance in macroeconomic stability. Before the MPFA, the thumb rule for inflation in the future was 8 per cent, and now we have increasing confidence in stable 4 per cent inflation. This has important consequences for numerous areas of decision making in the private sector and in public policy.

Impact on wage hikes: Our thumb rules about wage hikes change. Earlier, wage hikes were anchored around the number of 10 per cent. The floor for wage hikes was 10 per cent, which was 2 per cent real, and some employees got more than 10 per cent. Now we need to anchor ourselves around 5 per cent wage hikes. Keeping up with inflation is a 5 per cent wage hike, and some employees will go above 5 per cent.

When inflation rates come down, for some time, the economy keeps going with old assumptions about inflation. Perhaps hiring by firms has been slower than usual in recent years because wages have been too high compared with the growth of the top line (that has declined because of lower inflation). Perhaps we will get back to a more normal environment on the labour market once firms recalibrate down to lower wage hikes.

Impact on borrowing: Lower inflation changes how we think about debt. High nominal growth has a way of making old loans subside. In India, we had got used to the assumption of 15 per cent growth in the balance sheet every year. This gave a doubling every 4.6 years. So a loan which feels like a stretch today is half as worrisome within 4.6 years; both sides have to only fight it out for the first 4.6 years.

This was particularly important for banks and banking regulation. Banks were used to racking up bad debt and then growing out of it. Banks would lend 100, of which 20 went bad. Accounting and regulatory tools were used to postpone the bad news, so the bad debt was only confronted after 4.6 years. At this point there was a recovery of five and a loss of 15, but the loss of 15 was expressed on total assets of 200, and that was survivable.

The old environment of sharp growth of the balance sheet has changed. When balance sheet growth drops to 11 per cent a year, in the low-inflation environment, this is a doubling every 6.3 years. Alongside this, the willingness to play the old game of hiding bad news has reduced at all levels: The Department of Financial Services, RBI, bond markets and corporate boards. These two factors have induced a valuable sea change in the behaviour of the debt market. The lending process needs to become much more analytical, away from the old ways of doling out debt without studying the borrower.

Impact on public finance: The key number that drives the budget process is the assumption about future nominal GDP growth. Traditionally, big numbers went in — 6 per cent growth and 8 per cent inflation was 14 per cent nominal GDP growth. But now we should be more cautious: 6 per cent growth and 4 per cent inflation give 10 per cent nominal GDP growth.

Impact on INR depreciation: When Indian inflation was at 8 per cent and the world was at 2 per cent, this created a systematic pressure of about 4 per cent rupee depreciation every year. With an inflation target of 4 per cent, that systematic pressure is largely out of the way.

There will, of course, be substantial exchange rate volatility. When emerging markets float the exchange rate, they get to about 12 per cent volatility. When India fully graduates to a modern monetary policy capability, we will get much higher INR volatility. But there will be no systematic pattern of INR depreciation.

Impact on rates of return: Assumptions about rates of return in India tend to be very high. We tend to look back at the BSE Sensex performance from 1979 to 1990, and the Nifty returns from 1990 onwards, and form a very optimistic sense of the rates of return on public equity. These assumptions need to change because inflation has come down by 4 percentage points, and because the equity index got a one-time surge when India opened up.

If you used to believe that the long-run average Nifty returns will be 16 per cent, you need to rescale this downwards to 12 per cent owing to lower inflation. The rough numbers may be as follows (https://bit.ly/2HmSCvX). With an inflation target of 4 per cent, the short-term riskless rate may be 6 per cent, on average. The equity premium may be 5-6 percentage points, giving equity index returns of 11-12 per cent.

This impacts upon corporate finance, structuring of private equity funds, etc. The process of business building will be put on better foundations when we fully adapt the assumptions underlying financial analysis to the new low-inflation environment.

When inflation rates come down, for some time, the economy keeps going with old assumptions about inflation. Perhaps investment by firms has been slower than usual in recent years because it has been hard to find projects that are viable at excessively high hurdle rates. Perhaps we will get back to a more normal environment in investment when we recalibrate to lower required rates of return.

The writer is a professor at National Institute of Public Finance and Policy, New Delhi

Food = Nutrition, nature and livelihoods

DOWN TO EARTH

SUNITA NARAIN

Poorer countries have health problems because of lack of food. Then as people get rich, they end up losing the health advantage of food availability. They eat processed food that is high in salt, sugar and fat, which makes them obese and ill. It is only when societies get very rich that they rediscover the benefits of eating real food and value sustainability.

In India, ironically, it is happening all at once. We have huge challenges of malnourishment and now a growing battle with the bulge and its associated diseases of diabetes and hypertension. But we also have an advantage — we have still not lost our culture of real food. The nutrition, nature and livelihood connection still exists, as many millions of Indians still eat frugal, but still nutritious, home-cooked meals with local ingredient. But this is because people are poor. The question and challenge are if we can continue to eat healthy meals that are sourced from bio-diverse nature and built on rich culinary cultures even as we get rich. This is the real test.

But to do this, we must get food practices right. We must understand that it is not necessary or accidental that the richer societies tend to lose the health advantage because of bad food. It is because of the food industry and it is because governments have stopped regulating in favour of nutrition and nature. Quite simply, they have allowed powerful industry to take over the most essential of our life business — of eating.

We need also to understand that eating bad is about changing practices of agriculture, so that business becomes integrated and industrial. This model is built on the model of supplying cheap food, with high resource and chemical inputs. So, names change; but food goes from one chemical ingredient — pesticide, antibiotics — to another.

The fact is that we need a model of agricultural growth that will value local good food production and not have to first "chemicalise" and then learn better. This is difficult. But this is what needs to be done so that we can have both nutrition as well as livelihood security. As yet, the food safety business is designed to focus on hygiene and standards. But regulations need food inspectors and so the cost of surveillance increases. Ironically, in this model, what goes out of business is what is best for our bodies and our health — small farmers and local food business. What survives is what we do not need — large agribusiness.

But simultaneously, we need to protect against bad food. Governments cannot say that eating processed food is about choice. Governments cannot stand by and watch as industry uses millions of dollars to cajole, persuade and seduce consumers to eat what they know is junk and unhealthy.

The Food Safety and Standards Authority of India (FSSAI) is sitting on two crucial regulations — that it published over a year ago — to regulate labelling "junk" food and to guide schools on the food menu that is both nutritional and hygienic.

This is clearly because of pressure from the powerful and organised processed food industry, which does not want front-of-the-pack labelling that will tell consumers how much sugar, salt or fat their product contains in relation to what we should be consuming every day. The objective of this draft notification was to ensure that we as consumers were told that gulping down a bottle of our favourite soft drink, for instance, would mean consuming two days' quota of sugar. Or that next time we serve children their instant noodles, it would mean that the rest of the day has to be minimal in salt — in fact it has to be boiled vegetables. The draft notification on labelling, for the first time, required information on the amount of salt, sugar and fat in relation to what the recommended dietary allowance is. It would provide us the knowledge to make informed choices as consumers. But this is too inconvenient for industry, which thrives on making food that is junk and without nutrition.

This is not all. In India, we also need to celebrate our rich food cuisine, which is built on the incredible colour, flavour, spice and diversity of nature. We need to know that if biodiversity disappears in the wild, we will lose the food wealth on our plates. Food will become impersonal. It will become a sterile package designed for universal size and taste. This is what is happening today, where we eat plastic food from plastic cans.

We need to make the connection between what we eat and why we eat it. Because if lose the knowledge and culture of our local cuisines then we lose more than their taste and smell. We lose life. We lose our tomorrow.

The writer is at the Centre for Science and Environment
sunita@cseindia.org
Twitter: @sunitanar

Climate change and human history

BOOK REVIEW

PETER N MILLER

From around 1570 to 1710, temperatures in the earth's Northern Hemisphere plunged by an average of about 2 degrees Celsius — roughly the same amount by which the planet's temperature is supposed to rise under the more catastrophic predictions of our warming futures. Two degrees colder meant a growing season shortened by three weeks. The apocalyptic changes that are coming — bigger storms, higher seas, longer heat waves, more insect-born disease — remain, for now, a task for the imagination. But the impact of those long-ago icy winters, frigid summers and torrential autumns requires no imagination: It's all recorded in contemporary sources.

In "*Nature's Mutiny*," Philipp Blom, a German historian, treats this one well-documented period of climate change, the so-called Little Ice Age, as an experiment in what can happen to a society when its baseline conditions, all ultimately dependent upon the weather, are shaken. The premise of treating historical sources as a way of answering current questions is so good that Blom should have stuck to it. He is tempted, however, into making everything new in the 17th century a result of climate change, and this can only be true by so diluting the notion of causation as to render his claim meaningless — or just plain vulnerable.

The initial crisis was food insecurity, much as it will be for us. Hunger hit the countrysides of Europe first. If peasants starved and then abandoned the country for the cities, the aristocrats, who lived off peasant production for both food and wealth, went down with them. People living on the land at least had direct access to whatever food there was; those in cities were dependent on rural surplus reaching them, and when it didn't, they rioted. They were also pushed into even more extreme measures: During the siege of Paris in 1595 the starving defenders of the city discussed breaking into a cemetery, removing the bones, grinding them into a fine flour and then using it to bake bread.

Resource scarcity stoked violence big and small. This was a century at war with itself: urban revolt, civil war and international conflict, and sometimes all at the same time. The losers were the ordinary people who died in vast numbers or were forced into exile as loathed refugees, also in vast numbers. The big winner was religion: Those who trafficked in biblical warnings about the end of the world got more attention. The most radical, who saw God's flail in worsening weather, sometimes took matters into their own hands and abandoned Europe altogether to build on some distant shore their shining city on a hill. Few centuries in recent times were as dominated by religious upheaval as the long one that stretched from Luther to Louis XIV. Die-hard secularists take note.

In "*Nature's Mutiny*," Philipp Blom treats this one well-documented period of climate change, the so-called Little Ice Age, as an experiment in what can happen to a society when its baseline conditions

If there is a bright part of the story it's that crisis forced innovation — or at least removed a bias in favour of doing things the way they always had been done. What we call "research" often came to the rescue: "The most basic proposals for tackling the climate crisis came from gentlemen scholars we would today call botanists and agricultural experts." Why this occurred in Europe but not, say, in China is an important question that Blom, unfortunately, declines to entertain.

The book is marred by errors of fact. (Montesquieu wrote in the 18th century, not the 17th; the Jewish Pale of Settlement was created in the late 18th century, not the 17th.) It too often reads like a series of potted histories. But the main thrust is well worth pondering: Climate impacts human history. T S Eliot warned in "*Four Quartets*" that though nature seemed like a "solved" problem, "in the sombre season or the sudden fury" it was a "reminder of what men choose to forget." Being lulled into forgetting nature is, at least, no longer our problem.

© 2019 The New York Times News Service

NATURE'S MUTINY
How the Little Ice Age of the Long Seventeenth Century Transformed the West and Shaped the Present
Philipp Blom
Liveright Publishing
332 pages; $27.95

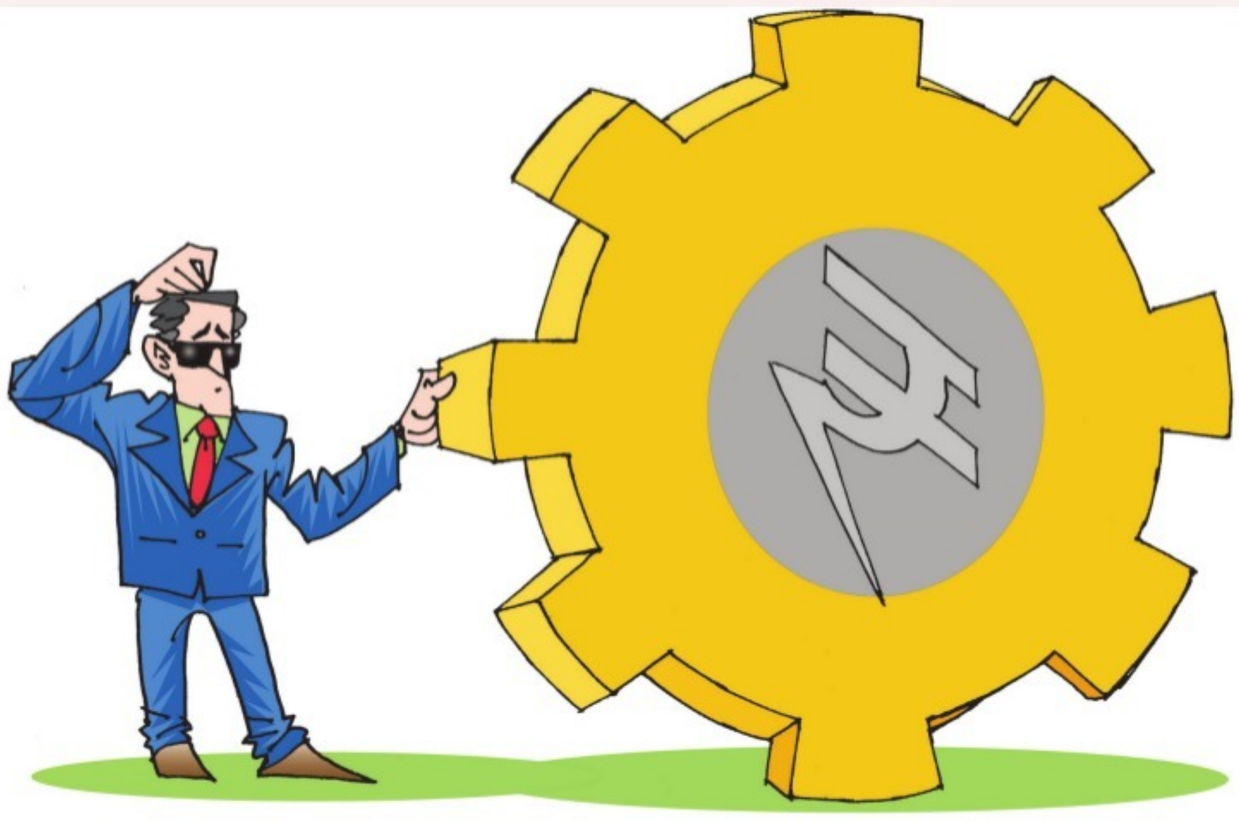

ILLUSTRATION: ROHNIT PHORE

DEVASHISH DHAR

The author is a public policy specialist, NITI Aayog. Views are personal
Twitter: @dhardevashish

Reading between the numbers

To question the CSO on GDP revised estimates is to question too much of everything. Indian statistics have been a matter of national pride for decades, and remain one of India's hallmarks. Let us question, but keep this curiosity rooted in fact-checking, balance and restraint

THE INTENTION TO question and make public institutions accountable is a noble and value virtue in democracies. However, the tendency to libel and undermine credibility of institutions is a downward spiral that stops at nothing. When the dust settles, it leaves behind damaging the legacy of decades-old pioneering work. Such misgivings and apprehensions develop an acute form of cynicism that would eventually damage how we function as a nation.

The Central Statistics Office (CSO) is facing a similar onslaught from various quarters for undue reasons. The recently-released quarterly GDP estimate has rekindled the debate around revised estimates for GDP growth for 2016-17 and 2017-18. According to the CSO, GDP at 2011-12 prices for 2016-17 and 2017-18 stands at ₹122.98 lakh crore and ₹131.8 lakh crore, respectively. This translates into GDP growth of 8.2% during 2016-17 and 7.2% during 2017-18. The din around these numbers is claiming that revised numbers are much higher than provisional estimates. In the May 2018 provisional estimates, the CSO pegged GDP growth of 7.1% and 6.7% for 2016-17 and 2017-18, respectively. The criticism is based on the belief that demonetisation damaged the growth pace and it is unlikely that we could have clocked 8%-plus growth in that year.

There are various reasons to refute the claims of critiques. For the purpose of this article, I will keep it limited to three.

First, as the name suggests, provisional estimates are subject to change and revised estimates (which also have multiple rounds) update the sector and GDP numbers as more data comes in. The time duration between first advance estimates and third revised estimates is 36 months. Revised estimates exceeded advance estimates earlier, too. A NIPFP paper details revisions in GDP growth estimates from 2004-05 to 2015-16. It compares advance estimates with all three rounds of revised estimates. Two times during the UPA, the third revised estimates exceeded advance estimates by 1.4 percentage points. In 2013-14, revised estimates exceeded advance estimates by 1.3%. Barring 2008-09, when we were reeling under the Global Financial Crisis, almost in all years revised estimates were higher than advance GDP estimates during the UPA 1 and UPA 2. A separate RBI study notes that almost always earlier estimates underestimate the real GDP growth. It also points that major global economies regularly undertake these revisions, and in the US the mean absolute revisions on quarterly GDP are slightly more than 1.0 percentage points. The critiques are, therefore, kicking the dust for no good reason, especially when their own tenure witnessed such upward revision of GDP estimates.

Second, demonetisation in 2016-17 has been used as inscrutable excuse to almost demand for lower GDP growth numbers. GDP, after all, is a theoretical construct, which captures the economic activity within a geographical area. Increased formalisation in an economy is reflected in higher GDP numbers. Prior to demonetisation, certain economic activities may still be continuing, but the policy move nudged these activities to move under the formal net. Some indications of higher formalisation include increase in EPFO and ESIC subscribers. The number of employees registered under the ESIC took a jump of 55% in 2016-17 as compared to an average growth of 4.7% for the previous three years (2013-14 to 2015-16). Likewise, as per the draft report of the EPFO, the contributing members in 2016-17 grew by 9.6% as compared to an average growth of 6.8% over the previous three years. Clearly, there was a nudge towards increased formalisation due to demonetisation, which is subsequently recorded in official growth numbers. Anecdotal evidence points out that firms had an incentive to front-load wage payments, and to do it legally, they had to register their employees. While many rue the return of cash in the economy, such systemic changes are going to persist and even become the new normal for the coming years.

Demonetisation led to higher formalisation of the economy. As formal economy share rises, the economic activity previously unaccounted for becomes part of formal numbers

Third, a study done by the ministry of urban development highlighted that 47 municipalities received a windfall gain of 265.7% in November 2016 as compared to revenue in November 2015. These largely comprised of property tax and utility bill arrears payments. Of the 47 municipalities, Greater Hyderabad Municipal Corporation's revenue increased by an astonishing 25 times, from ₹8 crore in November 2015 to ₹208 crore in November 2016. Likewise, Mumbai's revenue for the month increased three times to reach ₹11,913 crore. Not surprisingly, the gross value added (GVA) at constant prices for 'electricity, gas and water supply' grew by 10% in 2016-17 as compared to an average growth of 4.7% over the previous four years (2012-13 to 2015-16). Similarly, during demonetisation, there were reports that wages in many sectors were front-loaded. Agriculture and construction sectors are known for informal labour employment. For agriculture sector, GVA at constant prices increased by 6.3% in 2016-17 as against an average growth of 1.9% over the last four years. For construction, GVA at basic prices grew by 6.1% as against an average growth rate of 2.7% over the last four years.

Coupled with the implementation of the goods and services tax (GST), demonetisation created a ripple that positively impacted transactions and which had been a tough nut to crack previously. The Economic Survey 2017-18 points out to two such evidences. One, the number of new taxpayers increased substantially during the November 2016 to November 2017 period. During this period, the new taxpayers increased by 10.1 million as compared to an average of 6.2 million in the preceding six years. The Survey attributes addition of 1.8 million new taxpayers (by November 2017) due to demonetisation and GST reforms. Two, GST, even though implemented after 2016-17, added 3.4 million new indirect taxpayers. These are largely smaller enterprises that intend to claim input tax credits. Clearly, there has been a continuous trend of increasing formalisation. This translates into higher GDP growth numbers, as transactions that were out of the net were now being recorded.

The signals coming from different sectors fall in line with revised GDP estimates, particularly for 2016-17. Yes, to many, it may seem counter-intuitive. However, as new numbers come in, the CSO, as per standard practice, has revised the estimates. Revised estimates have exceeded provisional estimates in the past, too. In fact, the difference has been higher on more than one instance during the UPA years. Such revision also seems to be in line with the global GDP assessment exercises. Demonetisation during the year led to higher formalisation of the economy, as indicated in the EPFO and ESIC numbers. As the formal economy share rises, the economic activity previously unaccounted for becomes part of formal numbers. Also, demonetisation spurred considerable front-loading of expenses, such as wage payments in construction and agriculture sectors, both of which reflect in the higher GVA growth numbers for the sectors. The same could be said about the electricity, gas and water supply sector due to municipalities' creative thinking of allowing people to clear arrears using demonetised currency notes. A win-win situation resulting in significant jump of revenue for at least 47 municipalities provided reasons to cheer.

To question the CSO on this issue is to question too much of everything. Indian statistics have been a matter of national pride for decades, and continue to remain one of the country's hallmarks. Let us question, but keep this curiosity rooted in fact-checking, balance and restraint.

TECH AND PRIVACY

The third act of Facebook

If it works, the social-networking giant will become more private, more powerful

THE FIRST BIG OVERHAUL for Facebook came in 2012-14. Internet users were carrying out ever more tasks on smartphones rather than desktop or laptop computers. Mark Zuckerberg opted to follow them, concentrating on Facebook's mobile app ahead of its website, and buying up two fast-growing communication apps, WhatsApp and Instagram. It worked. Facebook increased its market valuation from around $60 billion at the end of 2012 to—for a brief period in 2018—more than $600 billion.

On March 6, Mr Zuckerberg announced Facebook's next pivot. As well as its existing moneymaking enterprise, selling targeted ads on its public social networks, it is building a "privacy-focused platform" around WhatsApp, Instagram and Messenger. The apps will be integrated, he said, and messages sent through them encrypted end-to-end, so that even Facebook cannot read them. While it was not made explicit, it is clear what the business model will be. Mr Zuckerberg wants all manner of businesses to use its messaging networks to provide services and accept payments. Facebook will take a cut.

A big shift was overdue at Facebook given the privacy and political scandals that have battered the firm. Even Mr Zuckerberg, who often appears incapable of seeing the gravity of Facebook's situation, seemed to grasp the irony of it putting privacy first. "Frankly we don't currently have a strong reputation for building privacy protective services," he noted.

Still, he intends to do it. Mr Zuckerberg claims that users will benefit from his plan to integrate its messaging apps into a single, encrypted network. The content of messages will be safe from prying eyes of authoritarian snoops and criminals, as well as from Facebook itself. It will make messaging more convenient, and make profitable new services possible. But caution is warranted for three reasons.

Facebook's plans in India provide some insight into the new model. It has built a payment system into WhatsApp, the country's most-used messaging app. The system is waiting for regulatory approval

The first is that Facebook has long been accused of misleading the public on privacy and security, so the potential benefits Mr Zuckerberg touts deserve to be treated sceptically. He is also probably underselling the benefits that running integrated messaging networks brings to his firm, even if they are encrypted so that Facebook cannot see the content. The metadata alone, i.e., who is talking to whom, when and for how long, will still allow Facebook to target advertisements precisely, meaning its ad model will still function.

End-to-end encryption will also make Facebook's business cheaper to run. Because it will be mathematically impossible to moderate encrypted communications, the firm will have an excuse to take less responsibility for content running through its apps, limiting its moderation costs.

If it can make the changes, Facebook's dominance over messaging would probably increase. The newfound user-benefits of a more integrated Facebook might make it harder for regulators to argue that Mr Zuckerberg's firm should be broken up.

Facebook's plans in India provide some insight into the new model. It has built a payment system into WhatsApp, the country's most-used messaging app. The system is waiting for regulatory approval. The market is huge. In the rest of the world, too, users are likely to be drawn in by the convenience of Facebook's new networks. Mr Zuckerberg's latest strategy is ingenious but may contain twists.

THE ECONOMIST

Decoding Kapferer's Brand Identity Prism

Jean-Noël Kapferer of HEC Paris represented brand identity as a hexagonal prism, with each side representing essential elements of a brand

VIDYA HATTANGADI

The author is a management thinker and blogger

AS HUMANS, AS organisations, as products, as services and as nations, each one makes an effort to create an identity of its own because 'identity' provides meaning, harmony and purpose in life. It evolves as we grow through life cycle. Without identity, it's almost unfeasible to create meaning and purpose.

A corporate identity or a corporate image is the manner in which a firm or business presents itself to the public and stakeholders. Creating a suitable identity is primary goal of corporate communication. For positioning a brand in customers' mind, having a robust and recognisable brand identity is essential for distinguishing it from other products in a cluttered market. The identity needs to be crafted in a certain way, using particular elements of that brand such as the logo, tag line, tone, or colours, packing, ingredients, etc.

Brand identity is the meaning of the brand that the marketer projects and its efficacy can be measured. In 1996, Jean-Noël Kapferer, the professor of Marketing Strategy at HEC Paris, came up with the idea of representing brand identity as a hexagonal prism, with each side standing for one of these essential elements: 'Physique', 'relationship' and 'reflection' are the external factors of a brand, whereas 'personality', 'culture' and 'self-image' are internal factors. Successful brands are the ones in which all of these six facets are carefully intertwined and aligned. Kapferer's brand identity uses the traits of human beings as a metaphor of a brand.

Physique: The first facet of the Brand Identity Prism refers to the underlying physical characteristics of a brand. Physique portrays the form, size and development of a product. The physique of a brand turns abstract and elusive characteristics into something visible. The physique helps consumers get associated with the brand initially. When you see the iPhone made by Apple, you get attracted to its elegance, style and aesthetics.

Personality: It is the combination of characteristics or qualities that form an individual's distinctive character. This element is about the character of a brand. Brand personality is developed by attributing human characteristics to it, so that a consumer can relate to the brand easily. Toyota Innova has built a reputation of being a rugged, dependable and comfortable MPV with the highest levels of safety. Brands also hire celebrities to endorse a product's personality.

Relationship: It refers to relationship between a brand and customers in terms of what consumers think, feel, and how they pursue the brand. A favourable relationship helps managers and stakeholders understand how to create a favourable brand approach to drive brand loyalty, repeat purchase, customer lifetime value, customer advocacy, and communities of like-minded individuals organised around the brand. The approach adopted by the marketer is important in terms of which human traits describe this relationship.

Netflix, the video streaming company, is known for its obsession with customers; Netflix collects a huge amount of data on customers to create hyper-personalised recommendations. It uses that data to help customers find their new favourite shows and to create award-winning original content that is exactly what customers want.

Culture: It can be defined as the inherent DNA that runs in the organisation. It consists of values, expressions and interactions the organisation creates with customers, employees and all stakeholders at every point. The culture consists even of the country of origin, the nation where a product is produced or branded. For example, globally, people favour cars produced in Japan for its culture, values and demographics. Honda, Mazda, Nissan, Toyota are respected brands in the world of auto.

Kapferer also gives another insight on culture; he says some brands have managed to capitalise on false origination than its original—the famous American brand Mars made the Dutch believe it originated in their country, and Mars has gotten adjusted to the Dutch culture and values.

Reflection: There is a subtle but sizeable difference between self-image and reflection. While the former is about customers' idea of self, the latter is how brands pursue their audience. Reflection can be described as a set of stereotypical notions of a brand's customer base, is used for promotional purposes, and highlighted in ads and commercials. It is a new framework to help brand owners and advertising agencies to understand and communicate brand identity more effectively. Brand reflection is especially useful for branding by marketing agencies to accelerate the positioning process of a brand in a certain segment. Brand reflection represents the distinctive class of users of a brand.

For example, in a typical Indian urban man's wardrobe, his suits have a special place; nicely dry-cleaned, neatly hung and properly matched with accessories from top to bottom. Among many other brands, at least one of the suits in the wardrobe is a Raymond suit. The tag line 'The Complete Man' suits the Indian man's psyche. The Complete Man describes a beautiful soul and a quintessence of individual spirit beyond gender specifics.

Self-image: It is about how customers of a particular brand see themselves; a brand gets the benefit from incorporating the unique association created by customers into creating its own identity. Most youngsters like to be tagged as 'cool', 'stylish', 'vibrant', etc; they, therefore, choose brands that help them ascertain those tags. A research on brand identity has found that people who struggle with identity disorders gain real insight into themselves by choosing 'right' brands. Perfumes help consumers boost their self-worth—Arpège, by the famous French company Lanvin Perfume, is used by stylish and classy women. It has been known for restoring feelings of self-worth in many women for decades. Its catchy tag line 'No bottles to break—just hearts' says it all.

Opinion

MONDAY, MARCH 11, 2019

STRENGTHENING TIES

Wang Yi, Chinese foreign minister

China and India should be each other's partners in pursing our respective dreams and each other's important opportunity for growing our respective economies. Collectively we must make our due contribution to Asia's revitalisation and prosperity

Invoking OSA in Rafale case suggests govt on backfoot

As the Supreme Court asked the Attorney General, if the documents are genuine, does it matter if they are stolen?

AT ONE POINT, especially after the CAG report, it appeared the government had weathered the worst of the Rafale controversy. Ideally, there could have been no comparison between the UPA's Rafale deal and that of the NDA since, despite 10 long years of negotiations, there was no UPA deal; it was just an unending conversation and merely a statement of intent. The deal was stuck on costs since the Indian partner—the public sector HAL—was going to produce the aircraft at a higher cost than Dassault in France and, more important, Dassault was not willing to stand guarantee for the aircraft HAL produced even though these would be under licence. The fact that the UPA wasn't able to sign a deal while the Indian Air Force found its fleet rapidly depleting would, in normal circumstances, be enough to ensure the Congress party kept quiet on the deal. Indeed, the recent statement by the then defence minister AK Antony, that he had intentionally delayed the deal in the national interest—he has not explained what he meant—makes the UPA's position even more untenable since the story is no longer just one of the usual delays in defence procurement, it is a lot more worrying.

Despite this, however, the CAG made some assumptions in order to compare the NDA's deal and the UPA's non-deal, and concluded that the NDA's was a bit cheaper than the UPA's despite the number of aircraft being much smaller—usually, smaller deals cost more. While some have argued that the assumptions made by the CAG for this exercise are incorrect, in times when few have the patience to hear detailed arguments, the headline is what really matters, and that favoured the NDA.

Given this, and the fact that *The Hindu* had published stories critical of the Rafale deal even earlier, it is indeed odd that Attorney General KK Venugopal should now ask the Supreme Court to not consider the latest story because it was based on stolen documents; he even said the government may file a case under the Official Secrets Act (OSA) since stolen official papers were used. Not surprisingly, the judges were quite caustic and asked him why stolen papers shouldn't be used if they shed new light on the matter. One judge even asked Venugopal whether the courts should refuse to look at documents that proved a person's innocence just because the documents were stolen. Such a defence, to even those sympathetic to the government's dealings in the Rafale case, indicates that the government has something to hide. In the past, in fact, when *The Hindu* published a story last month suggesting irregularities, the defence minister had given a convincing reply without bringing in the allegations that the documents were stolen. Indeed, the Attorney General should be asked to name a single case of corruption where the documents used to prove the case were not 'confidential' government files and which, going by his stance, should have resulted in arrests under the OSA. And if national security—another tag that is being invoked—is to be used each time a journalist publishes government documents, surely this would apply to other corruption cases as well, including Bofors? More so when even fairly routine papers are marked classified or top secret.

Apart from the fact that it is not a journalist's job to protect the government's interest—in exposing official lies, the journalist is answerable to a larger cause, that of society or the country—the Attorney General should have kept in mind that, over time, governments all over the world, including India, are moving towards removing the veil of secrecy that covered most official dealings; India's Right to Information attempts to ensure citizens have enough information to expose the wrongdoings of officials. Sadly, it is not just the BJP—though it stands exposed right now—most political parties speak in different voices at different times on laws like official secrets or sedition; they want them scrapped when they are in the Opposition but use them quite liberally when they are in power.

RBI should cut CRR levels

Will free up cash reserves and create room for lower rates

INDIA'S INVESTMENT CYCLE has been in a trough for several years now. And it could take at least a couple of years more for it to crawl out of that trough. Apart from the fact that capacities in most sectors seem sufficient for some time, there is a shortage of equity capital and a good many companies remain over-leveraged. But even if these factors improve, real interest rates in the economy are high. While a drop in the real rate is unlikely to prompt promoters to add capacities, it will make a difference at the margin and that is not to be sneezed at given the pitifully small greenfield investments that the private sector is making today.

Real rates are unlikely to fall sharply in the near term because inflation is expected to remain benign with just a small rise being pencilled in. Ideally, households should have been spurred into saving more at these elevated real rates of around 5% but the trends are otherwise. The pace of such savings has been stagnant over the last few years with the growth rate having dropped to 17.2% in 2017-18, from a robust 22.5% in 2012-13. The net financial savings rate in 2017-18 was just 6.6% compared with 7.4% in 2012-13. The sharp drop in the growth rate is not so hard to understand. Consumers have been spending more as society turns more aspirational and, in fact, many are open to borrowing to make the purchases—that is why there has been such a large increase in household liabilities. Also, in the absence of enough jobs and, more importantly, enough well-paying jobs, the ability to save has been smaller.

On the other hand private corporate savings, while not having risen substantially, have been steady over the past few years after a sharp uptick between 2004-05 and 2014-15. To be able to entice companies to borrow to expand capacities, banks need to be able to keep loan rates at affordable levels. However, with deposits growing at a much slower pace than loans—around 9.5-10% compared with 14.5-15% for loans—they are unable to lower deposit rates and that is driving up the cost of funds. Strategists at Kotak Institutional Equities have suggested that RBI should trim the Cash Reserve Ratio (CRR) to manage the rising gap between the high credit growth and low deposit growth given a cut in the policy rates may not help much. Indeed, the transmission of a cut in the repo to loan rates has been very poor over the last few years, the key reason being the relatively high cost of deposits. Also, banks are holding more liquid assets—gilts—than they need to give them a cushion. A CRR cut would free up cash and create some room to lend at lower rates.

MotherhoodPENALTY

Maternity means drastic wage erosion for women in developed countrie while fathers face no such costs

THE INTERNATIONAL WOMEN'S DAY has just passed. Many countries, individuals and workplaces, all marked the day. Now, to sobering reality. A recent study shows that parenthood imposes a severe wage penalty on women in six developed nations, while men aren't affected much. As findings of the study by the National Bureau of Economic Research, an American non-profit organisation, show, in each of six countries, women returning to work after maternity saw their incomes dip significantly. In Germany, after 10 years of having returned from maternity leave, a mother was earning 61% less than what she did before she gave birth. In Austria, the wage penalty on women was 51%, in the UK and the US, it hovered around 40% while it was the smallest in Sweden and Denmark.

The motherhood penalty was the largest in countries where the popular opinion was that women should stay at home with kids. What is also interesting is that public policy plays a big role in restoring balance. Sweden, where the penalty is the lowest, provides for parenthood leave of 12 months, to be split evenly between the mother and the father. Three months are reserved for the father, if it is not availed, it is forfeited. While Swedish men see a small dip in their income compared to fathers from other countries, the dip is insignificant compared to the wage penalty women pay across the world. While it is a fact that women lose out because they choose to stay at home and not work for the period of the maternity leave, it is the fact that society, at large, pushes the child-rearing role on to women and penalises women disproportionately for parenthood that needs to be kept in mind while devising policy to better the lot of women. Making men an essential part of parenting through a policy push could go a long way in addressing this disparity.

LEARNING FROM THE PAST

GIVEN ITS LOCATION AT THE CROSSROADS OF ASIA, AND AS LONG AS TERRORIST GROUPS CAN OPERATE FROM WITHIN AND PAKISTAN, THERE WILL BE A CONTINUED INTEREST IN AFGHANISTAN

History key to planning Afghanistan's next chapter

DHRUVA JAISHANKAR

Fellow in foreign policy studies at Brookings India in Delhi and the Brookings Institution in Washington, DC

THE RECENT GEOPOLITICAL history of Afghanistan can be divided into five phases. But now, it is at the cusp of another transition, and the defining features of the new phase remain to be seen.

During the first phase, from 1974 to 1979, Pakistan began to give refuge and training to Islamists who could be deployed against Mohammed Daoud Khan's government. Then, from 1979 to 1989, Pakistan, the United States, and Saudi Arabia financed, trained, and equipped the *mujahideen* who fought against Soviet troops. From 1989 to 1996, Afghanistan was in transition as regional warlords gained power, closed in on Kabul, and overthrew president Mohammad Najibullah. From 1996 to 2001, the Taliban government ushered in a period of wanton savagery and—with the exceptions of Pakistan, Saudi Arabia, and the United Arab Emirates—diplomatic isolation.

The fifth phase began in 2001, following the 9/11 attacks. Since then, the US has been embroiled in a war supporting a patchwork Afghan government against a resurgent Pakistan-backed Taliban. The sixth phase raises two questions: Did the US lose the war in Afghanistan and, if so, why?

The answer to the first question is both yes and no. The US has failed to eliminate the Taliban from Afghanistan and entirely rule out the possibility of the country again becoming a haven for terrorists. The ongoing peace talks with the Taliban and the impending reduction of the US military presence in the country are a clear recognition of this. The American public is war-weary and president Donald Trump is keen to declare an end to the longest international conflict in US history before the 2020 presidential election.

At the same time, the US achieved many of its initial core objectives. The Taliban was expelled from Kabul and, despite the current peace talks, its uncontested return remains doubtful. Osama bin Laden was killed in neighbouring Pakistan, Taliban leader Mullah Omar died in hiding, and his successor, Mullah Akhtar Mansour, was killed by a US drone strike in Pakistan in 2016. A semblance of a functioning state—including a national government and a military—is now a reality, however flawed. And Pakistan remains under pressure to clean up its act.

> For years, US policymakers believed that the key to peace in Afghanistan lay in pressuring India to resolve the J&K dispute

But, overall, things did not go according to plan for the US, for four main reasons. First, and most obviously, it made political mistakes, born largely of ignorance and hubris, although often apparent only in hindsight. After 2001, the US imposed on Afghanistan a presidential-style government with inadequate checks and balances. After 2003, policymakers became distracted by the initially more intense conflict in Iraq and withdrew resources and attention from Afghanistan. Moreover, they paid insufficient attention in the early years to building up the Afghan National Security Forces (ANSF). In addition, democratisation efforts were mostly top-down rather than bottom-up, and elections often were scheduled before the appropriate political institutions were in place.

The second set of mistakes were military in nature. After 2008, US war planners believed that a counter-insurgency approach would work. But a "surge" of the kind that initially reduced violence in Iraq failed in Afghanistan for a number of reasons.

For starters, the US was unable to co-opt key adversaries, as it had done with Sunni militias in Iraq following the "Anbar Awakening". Moreover, it had no solution to cross-border havens in Pakistan, from which Taliban forces could plot and launch continued attacks, and it underestimated the governance challenges in Afghanistan, which had much deeper roots than in Iraq and made development and state-building more difficult. Furthermore, when then-US president Barack Obama announced the surge in Afghanistan, he undermined the effort by also setting out a withdrawal time frame. That was a mistake that even Trump was wise enough to avoid.

The US also failed to learn from past mistakes. Comprehensive US reviews of Afghan policy that produced unpalatable or ineffective recommendations gave way to comprehensive reviews that produced equally unpalatable or ineffective outcomes. In particular, successive US administrations, military commanders, and diplomats believed that buying Pakistan's tactical cooperation through threats, aid, or military support could prove sustainable. The unwillingness to address Pakistan's support for terrorism head-on was driven by US concerns—real or inflated—about that country's nuclear weapons programme. As a result, for years, many US policymakers persuaded themselves that the key to peace in Afghanistan lay in pressuring India to resolve the Jammu and Kashmir dispute and thereby somehow allay Pakistani insecurities.

Finally, the US fell victim to its own propaganda. Consider, for example, the notion of Afghanistan as the "graveyard of empires", which reflected late-nineteenth-century Britain's effort to explain its failures in the First Afghan War and the emergence of Afghanistan as a buffer zone between the British and Russian empires. It was later propagated by the US, Pakistan, and others in the 1980s and went hand-in-hand with support for the anti-Soviet Afghan *mujahideen*. But the reality is that Afghanistan (or parts of it) had, at various points, been part of the Kushan, Hellenistic, Persian, Mughal, and Sikh empires, and was at the centre of the Ghaznivid and Durrani empires.

Given its location at the crossroads of Asia, Afghanistan will remain of interest to Iran, Russia, China, Pakistan, and India. And, as long as terrorist groups can train and operate internationally from Afghanistan and Pakistan, the US and Europe will also have a continued interest in the country's future. In assessing that future, it will be important to reflect upon the recent past, in order to break the cycle of unlearned lessons that have brought Afghanistan and its interlocutors to this point.

Copyright: Project Syndicate, 2019
www.project-syndicate.org

Predicting Pulwama election fallout

Opposition feels it has lost its best chance of defeating Modi. BJP, on the other hand, is secretly happy that all 'real' issues can be forgotten

MEGHNAD DESAI

Prominent economist and labour peer

THE ONLY PROBLEM with prediction is that it cannot cope with too much uncertainty. Models of prediction rely on the old patterns repeating themselves. As long as the future can behave like the past, except for random errors, one can forecast the future. When an event happens which is completely new or has occurred only rarely in the past, it is hard to gauge its effect on the future. Prediction to be accurate needs lots of stable patterns in the past to make it easy.

This is what has happened in India over the last fortnight. Election predictions were looking at past trends in terms of voting behaviour by caste, language, region, economic variables, etc. A sort of consensus had emerged that the BJP will be the largest single party. Beyond that, people were unwilling to commit. BJP was forecast to get anywhere between 150 to 210 seats with caveats as to whether it would form the government with its coalition partners. Congress was forecast to increase even more than double its current number of seats. Its Grand Alliance could just drag it above NDA if BJP score low.

Then the Saint Valentine's Day massacre took place at Pulwama. India waited for a fortnight and retaliated. The match was over when Pakistan returned the Indian pilot. Each side thought it had won, which is the ideal outcome in any battle. This was an unanticipated event and of a very low frequency. It has upset all predictions.

The BJP is not openly jubilant electorally but thinks it has a cushion now and its single party majority is not out of the question as it looked like being after the multiple defeats in state elections last December. Congress is desperate to downplay Indian success and wants to make it an 'Army good/Modi bad' story out of it. Either way, the Opposition is getting desperate. It may lose its best chance of defeating Modi. BJP, on the other hand, is secretly happy that all 'real' issues can be forgotten. Victory has been guaranteed by the barrel of a gun or a missile shot from an aircraft.

In fact, no one knows. There is no certainty that the skirmish will necessarily help BJP. In the UK elections, there is the story that the Falklands War helped Thatcher win the 1983 elections despite the economy being in stagflation. Even there, the Conservatives were in the lead before the Argentinians began their attempt to take over the Falklands. People, even the unemployed, felt Thatcher deserved a longer period to change the failing economy.

> Open debate is impossible under such circumstances with the aftermath of Balakot clouded by conjectures and fake news

Modi can also be favourably seen as someone halfway through transforming the Indian economy. He is hoping people will see how much he has done and yet how much remains to be done. His opponents want people to think that Modi overpromised and underdelivered. The balance is slightly in Modi's favour in my view but, cautiously, I put the BJP seat count pre-Pulwama at no more than 230. Will the skirmish help Modi?

The main point of uncertainty is that the war may not be over yet. Though the skirmish belongs to a class of events of low frequency, no encounter has been this short. Both sides may be congratulating themselves too soon. The terrorist who is the third player in this game is unpredictable. He has not won nor does he ever stop. It very well could be (though I hope not) that another major case of large casualties may hit India and, at that stage, the conflict may get prolonged. Then, the BJP will have to govern while fighting the election, if the conflict has not come to an end before the end of the election campaign.

At that stage, all bets are off about who will benefit or lose from the military campaign. The Election Commission is about to announce its timetable any day now. If a war breaks out after the timetable has been set, it would require a consensus on behalf of all political parties to postpone the election.

There is no precedent for it nor is it clear who has the last word on this tricky question. There are limits on what the incumbent government can or cannot do during an election. But a military battle has to be fought and only the government, still in office, can fight it.

But a vigorous contest with open debate is impossible under such circumstances. Even the aftermath of Balakot has been clouded by controversy, fake news and conjectures. The Indian political system could face its toughest test if an election had to be conducted under wartime circumstances. The only hope is that the unpredictable will not happen. Let us all whistle in the dark.

LETTERS TO THE EDITOR

Implementing efficient credit norms

Enforcement of norms on bad loans ought to be realistic and viable. Premature or too real-time disclosures can increase volatility, diminish investor confidence and impact a stakeholder's market goodwill. The authorities have done well to prioritise the rehabilitation of PSBs and mitigate capital/operational risks. However, with recent incidents of fraudulent activities coming to light, it is important to establish a robust cybersecurity framework and micro-monitor transactions and the end-use of credit to curb instances of phishing/dubious transactions. A slight lag is expected before the outcome of initiatives to implement governance reforms

— Girish Lalwani, Delhi

Ayodhya mediation

The Supreme Court's decision to give 'mediation' perhaps one final chance, to try and settle the land dispute at Ayodhya, is welcome. It goes without saying that a negotiated settlement is the best option to avoid strife and ensure harmony. There is no reason why an amicable settlement cannot be reached with 'give and take' by both sides. The hot heads on both sides that have a vested interest in taking maximalist positions have to be reined in for the mediation effort to fructify. In a country where Hindus and Muslims live cheek by jowl, a temple and a mosque can exist side by side in close proximity to each other as elsewhere and everywhere as a collective symbol of religious tolerance and harmony. After all, humanity is far more important than religion

— G David Milton, Maruthancode

●Write to us at feletters@expressindia.com

Regd. No: DL -21048/03-05. R.N.I. No.26750/74. Printed and Published by R.C. Malhotra on behalf of The Indian Express (P) Limited and printed at The Indian Express (P) Limited Press, A-8, Sector-7, Noida - 201301 and published at The Indian Express (P) Limited, Mezzanine Floor, Express Building, 9 & 10, Bahadur Shah Zafar Marg, New Delhi-110002. Phone: 0120-6651500, Fax: 0120-4367933. (Cover price: Patna: Mon-Fri ₹6, Sat ₹9, Sun ₹11; Raipur: Mon-Fri ₹7, Sat ₹10, Sun ₹10)
Chairman of the Board: Viveck Goenka, Managing Editor: Sunil Jain, Deputy Managing Editor : Shobhana Subramanian* (*Responsible for selection of News under the PRB Act) ©Copyright: The Indian Express (P) Limited. All rights reserved. Reproduction in any manner, electronic or otherwise, in whole or in part, without prior written permission is prohibited. The Financial Express®

@ieExplained
#ExpressExplained
If there are questions of current or contemporary relevance that you would like explained, please write to **explained@expressindia.com**

TELLING NUMBERS

More poll phases in 2014, seats more evenly bunched in 2019

THE SCHEDULE for the 2019 Lok Sabha elections, declared Sunday, is more evenly distributed among its seven phases than the 2014 polls were across nine phases. Last time, two of the phases covered 122 and 117 constituencies respectively while four other phases covered less than 10 seats each, including one covering just two seats. This time, all seven phases cover between 51 and 115 seats each.

Although the 2014 polls were held over a higher number of phases, some states will have their polls more spread out in 2019. The elections in Bihar and UP were held over six phases in 2014; both those states as well as West Bengal will have polls over seven phases in 2019. Last time, West Bengal and Jammu & Kashmir had five-phase polls; this time, J&K is the only state with five phases.

SEATS ACROSS PHASES

	2014			2019		
Phase	Date	Seats	States	Date	Seats	States
1st	April 7	6	2	April 11	91	20
2nd	April 9	7	5	April 18	97	13
3rd	April 10	92	14	April 23	115	4
4th	April 12	5	3	April 29	71	9
5th	April 17	122	13	May 6	51	7
6th	April 24	117	12	May 12	59	7
7th	April 30	89	9	May 19	59	8
8th	May 7	64	7	-		
9th	May 12	41	3	-		

STATES WITH MULTIPLE PHASES

No. of phases	2014	2019
7	-	Bihar, UP, West Bengal
6	-	Bihar, UP
5	J&K, West Bengal	J&K
4	-	Jharkhand, MP, Maharashtra, Odisha
3	Assam, Chhattisgarh, Jharkhand, MP, Maharashtra	Assam, Chhattsigarh
2	Andhra Pradesh, Odisha, Manipur, Rajasthan, Tripura	Karnataka, Manipur, Rajasthan, Tripura

THIS WORD MEANS

DAYLIGHT SAVING TIME

Why do many countries set clocks 1 hr ahead?

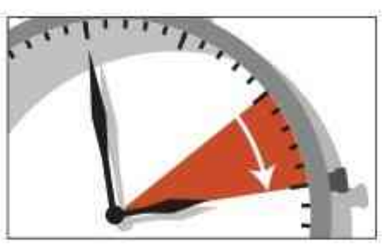

AT 2 am local time in most parts of the United States Sunday (Monday afternoon in India), Americans set their clocks an hour ahead. This is called daylight saving time, followed in over 70 countries on various dates, according to *timeanddate.com*. India does not follow daylight saving time; countries near the Equator do not experience high variations in daytime hours between seasons. In the US, where it is practised everywhere except in Hawaii and most of Arizona, it starts this year on March 10 and ends on November 3, when clocks will be set back to the original times.

The rationale behind setting clocks ahead of standard time, usually by 1 hour during springtime, is to ensure that the clocks show a later sunrise and later sunset — in effect a longer evening daytime. Individuals will wake an hour earlier than usual, complete their daily work routines an hour earlier, and have an extra hour of daylight at the end.

Timeanddate reports that it was followed by a group of Canadians on July 1, 1908, when residents of Port Arthur, Ontario, turned their clocks forward by an hour. Other locations in Canada soon followed suit. However, the idea did not catch on globally until Germany and Austria introduced DST on April 30, 1916, the rationale being to minimise the use of artificial lighting to save fuel during World War I. But does DST actually save energy? A century ago, when DST was introduced, more daylight did mean less use of artificial light. But modern society uses so much energy-consuming appliances all day long that the amount of energy saved is negligible.

Various studies have been conducted on the benefits and disadvantages of DST. Among the biggest cons is disruption of the body clock or circadian rhythm. *USA Today* cited a study that found DST increases the risk of heart attack by 25%, while a return to original times lowers the risk by 21%. It quoted Timothy Morgenthaler, a sleep medicine researcher, as that disrupted sleep patterns might affect memory, learning, social interactions and overall cognitive performance/

AN EXPERT EXPLAINS

When SC has ruled on life & death

SC has acquitted six on death row. Judgments on the death penalty have often been insconsistent.

FAIZAN MUSTAFA

ON TUESDAY last week, the Supreme Court recalled its own 2009 order sentencing six convicts to death, and acquitted them because of glitches in the prosecution case, which involved the murder of five persons. It brought the spotlight on the varying ways in which courts have awarded and commuted the death sentence over the years.

SC has ruled variously on death penalty and commutation. *Express archive*

The debate

India has the death penalty in 46 provisions under various laws. It is marked by the possibility of judicial error. As British legal philosopher H L A Hart said, "It would be a terrible thing if a man has been hanged for a crime which he has not committed; in such a case, law itself would be a murderer."

Indian Constituent Assembly member Shibban Lal Saksena, who himself had been on death row for 26 months, argued in 1949 that of 37 people hanged during that period, 7 were innocent. B R Ambedkar argued for abolition of the death penalty but the Constituent Assembly left the issue to the Supreme Court and Parliament. Eventually, Parliament and the judiciary could not abolish the death penalty; the 35th report of the Law Commission (1967) recommended retention of the provision.

The new Code of Criminal Procedure (1973) required "special reasons" to be given if death was preferred over a life sentence. Under the old CrPC (1898), reasons were to be given if the death penalty was not imposed. This requirement was removed in 1955. The 187th report of the Law Commission (2003) recommended use of a lethal injection in addition of hanging.

The court itself observed in *Santosh Kumar Bariyar* (2009) that the death penalty is imposed "arbitrarily or freakishly" and added: "There is no uniformity of precedents". Again in *Sangeet* (2013), the court acknowledged that "principled sentencing" has become "judge-centric". In *Swami Shraddhanand* (2008), the court said award of the death sentence depends on the "personal predilection of judges". In Mohd Farooq (2010), it held that "the precedent of death penalty... is itself crumbling under the weight of disparate interpretations."

Rulings on constitutionality

In *Jagmohan* (1972), the Supreme Court upheld the constitutionality of the death penalty, stating that Article 14 is not violated by the wide judicial discretion given to judges. But in *Ediga Anamma* (1974), the court said the question of life and death cannot be left to "*ad hoc* mood or individual predilection". In *Rajendra Prasad* (1979), the court rejected retribution as the purpose of punishment and said these "special reasons" should relate to the criminal, not the crime. In *Bachan Singh* (1980), the matter was referred to a Constitution Bench that upheld the constitutionality by a 4-1 majority. It said special reasons should relate to exceptional circumstances of a case in terms of both "crime" and "criminal". The court did not agree that wide discretion given to judges is arbitrary, but did say that death should be given only in "rarest of rare" cases when alternative option is unquestionably foreclosed. Justice P Bhagwati, in a minority opinion, observed that death penalty being arbitrary and discriminatory is unconstitutional.

In *Deena Dayal* (1983), the court upheld death by hanging as constitutional as it did not involve humiliation or torture. But in *Parmanand Katara* (1995), the court held hanging beyond the point of death by half an hour, as per the Punjab Jail Manual, to be unconstitutional.

Rarest of rare

In a number of cases such as *Lok Pal Singh* (1985) and *Darshan Singh* (1988), the death penalty was awarded without any reference to rarest of rare. In *Mukund* (1997) and *Farooq* (2002) it was referred but not applied.

In *Machi Singh* (1983), a three-judge Bench listed five parameters to decide whether a case falls within "rarest of rare" such as the manner of commission of crime (brutality, motive, antisocial or abhorrent nature), magnitude of crime and personality of victim (child, woman or popular leader) etc. These categories put much emphasis on the "crime" and ignored the "criminal" and the "mitigating factors" which had been equally emphasised in *Bachan Singh*. Thus, in *Devender Pal Singh* (2002), the court said the circumstances of the crime were such that death penalty had to be imposed.

The court also brought in the controversial concept of "collective conscience" of society being so shocked that it would expect judges to award the death penalty. This was subsequently used to award death in a number of cases including those of Dhananjay Chatterjee, Afzal Guru and Yakub Memon, although the *Bachan Singh* ruling had clearly denied judges the role of spokespersons for public opinion.

In *Santosh Singh Bariyar*, the court questioned the correctness of using the public's cry for justice in determining "rarest of rare" as it is not an objective circumstance. It said a "conscience of society" test undermines the judicial discretion underlined in the *Jagmohan* case; in *Mohinder Singh* (2013), the court reiterated that this is irrelevant for the "rarest of rare" doctrine.

In *Ravi Singh alias Ram Chandra* (1996), the court said the nature of gravity of the crime, not the criminal and punishment, must meet the society's cry for justice. In *Santosh Singh Bariyar*, the Supreme Court said Ravi Singh and six other cases involving Ravi Singh were *per incuriam* i.e. wrong judgments as they were contrary to what was laid down in *Bachan Singh*.

In *Shankar Kishanrao Khade* (2013), the court questioned the death sentence to Dhananjay who was executed in 2004 because it took into account just the crime and ignored mitigating factors about the criminal. But in *Gurwail Singh* (2013) and *Mofil Khan* (2015), the court said the real test is whether such crimes shock the conscience of the society.

Dhananjay was given death penalty at age 27 but Ramesh Bhai Rathod in 2011 got life imprisonment at 28 as the court thought reform was possible at his age. In *Purushottam Dashrath* (2015), the court again imposed the death penalty on offenders aged 26 and 20 and did not refer to *Ramesh Bhai*.

Commuted or confirmed

Modern jurisprudence acknowledges that prolonged delay in executing a death sentence can make the eventual punishment inhuman and debasing, because of uncertainty and alternating hope and despair. The court has, however, been inconsistent about the duration when execution is considered delayed.

A delay of one year in *Mohinder Singh* (1953), and a delay of 21 months in *Hardayal* (1976), were considered crucial to commute death into life imprisonment. But in *Balak Ram* (1977), even six years' delay since award of the death sentence by the trial court was not considered sufficient.

In *Bhagwan Bux Singh* (1978), two-and-a-half years were considered sufficient. In *Pashupati Singh* (1973), even though the accused was acquitted by the High Court, the Supreme Court commuted sentence on the ground of delay counting from the date of the crime. In *Ediga Anamma*, the court commuted the sentence in the brutal murder of a woman and her child, because the prospect of hanging had haunted the prisoner for over two years. In *T V Vatheeswaran* (1983), the court considered two years sufficient between the death sentence in the lower court and hearing in the Supreme Court.

In *K P Mohammed* (1984), the court indirectly disagreed with the two-year rule saying: "We do not hold or share the view that a sentence of death becomes inexecutable after the lapse of any particular number of years." A few weeks after *Vatheeswaran*, in *Sher Singh* (1983), the court overruled the two-year rule as unrealistic. In *Munawar Harun Shah* (1983), commutation was rejected despite a five-year delay. In *Smt Triveniben* (1988) the court said no fixed period can be set and delay after the conclusion of judicial process alone is to be taken into account.

In *M N Das* (2013), Das was convicted of murder and while on bail he committed another murder. He severed the victim's head and carried it to the police station holding it in one hand and the weapon in the other hand. The court thought it fit to commute the death sentence into life imprisonment, though only a few days previously the same Bench had refused commutation to Devender Pal Bhullar (whose sentence was subsequently commuted by another Bench).

How a young leader stands in Maduro's way

OM MARATHE
NEW DELHI, MARCH 10

OVER THE last two months, Venezuela has been going through a political and economic crisis with two claimants to the President's chair and the US imposing sanctions to pressure the incumbent regime. Matters reached a head last week when opposition leader Juan Guaidó, who has declared himself acting President and has the support of the West, returned home after a self-imposed exile to cheering crowds in Caracas. He is trying to force out left-wing dictator Nicolas Maduro, President since 2013, who has declared himself winner of a controversial election.

Ever since the global crude oil downturn, Venezeula has slipped into an economic crisis. Its crime rate has doubled and inflation multiplied. The West-imposed sanctions have now led to a prolonged electricity blackout. A look at the events leading to the political crisis:

Juan Guaidó in Caracas. *Reuters*

Rise of the leader

Guaidó, 35, was born in the beach town of Vargas, which was severely hit by flash floods in 1999. The family moved to Caracas, where Guaidó studied engineering. It was in 2006 that Guaidó emerged in politics, as one of the principal leaders campaigning for freedom of the press amid a crackdown by then President Hogo Chávez. Guaidó formed his party, Voluntad Popular, which is today leading the fight against Maduro. This year, Guaidó's party declared him President of the National Assembly, the country's Parliament.

The 2018 presidential elections marked a watershed in in Venezuela politics. Alleged irregularities led to the elections being discredited by several countries. Amid all this, Maduro assumed the presidency for a second time, leading to protests throughout the country.

With the executive and the judiciary under his control, Maduro sought to curtail the powers of the National Assembly.

The National Assembly resisted, with Guaidó questioning the government's legitimacy. On January 22, Guaidó declared himself interim President. The West was quick to recognise his claim.

On February 23, Guaidó left for Colombia, circumventing a travel ban imposed on him by Venezuela's Supreme Court. He also travelled to Brazil, Paraguay, Argentina, and Ecuador, lobbying for humanitarian aid to be sent to crisis-hit Venezuela.

Guaidó's return to Venezuela on March 4 was marked by spectacle. Ambassadors from 12 countries, including the United States, Germany, and Spain, arrived at the airport, impeding paramilitary forces from detaining Guaidó. The fuming Maduro expelled the German Ambassador on March 6.

What next

Many believe that Guaidó's return could spell trouble for Maduro. It appears difficult for Maduro to act against Guaidó, given his position as the National Assembly's President, popularity among the masses, and the fact that 56 countries (according to a Reuters report) have now acknowledged his claim to the presidency. While the West backs Guaidó, Russia and China are supporting the government.

The Reuters report, however, quoted former US envoy Elliott Abrams as saying there are no signs that Maduro is open to negotiations to end the political impasse.

Govt representative on interest rates panel: move in NZ, debate in India

SHAJI VIKRAMAN
CHENNAI, MARCH 10

ON FRIDAY, the Reserve Bank of New Zealand announced that effective April 1, the Secretary of the Treasury (the equivalent of the Finance Ministry in India), Gabriel Makhlou, would formally take up the role of the Treasury Observer on the Reserve Bank of New Zealand's Monetary Policy Committee. The move recalls India's moves on reforms in the past.

What was recommended

In the early days of the NDA government that came to power in 2014, discussions were under way on new policies to be unveiled. In the Finance Ministry, this was centred on some of the recommendations of the Financial Sector Legislative Reforms Commission (FSLRC), which included the formation of an independent committee to set interest rates rather than the age-old practice of the Reserve Bank of India (RBI) Governor deciding on this after consultation with colleagues.

One of the ideas discussed was about the composition of the Monetary Policy Committee (MPC): whether to have a Finance Ministry representative to oversee better coordination between the government and the RBI. A nominee of the Ministry - the Secretary, Department of Economic Affairs, who is the interface between the two - could be on the MPC, it was suggested, but without voting powers so that the independence of the interest rate setting committee would not be compromised. That idea never took off, while the decision on the final composition, in terms of the number of members and casting vote, was taken at the top, without involving many officers of the Ministry of Finance.

New Zealand & India

The move in New Zealand follows changes to the law governing the central bank there. The Treasury Observer will not have voting rights. That's not the only change in a country that is known to be a pioneer in inflation targeting. The New Zealand central bank will now have a new charter and remit and a code of conduct for members of its Monetary Policy Committee, which will kick in from April. In India, an MPC was operational in 2016 after Urjit Patel took over as Governor in September that year; he had chaired the committee which made out a case for such a framework. It will be interesting to note that the mandate of the interest rate setting committee in New Zealand is not just price stability, but also about ensuring maximum sustainable employment. In other words, India entered this realm late when others were retreating or reviewing such a framework.

In India, as final talks were under way on a monetary policy framework, there were senior officials in the government who flagged their concerns on such a formal legislative framework. They said it would lead to loss of flexibility for both the central bank and the government. That is a worry now, reflected also in the controversial conflict between the RBI and the government, leading to the Finance Ministry invoking a provision of the RBI Act to get the central bank going on a few things. One of the provocations, according to government officials then, was the breakdown in ties between Governor Patel and the Finance Ministry. Much before that, there was also a controversy featuring then Chief Economic Adviser Arvind Subramanian, when the ministry sought a meeting with the MPC a few days before a scheduled meeting, to make a case for an interest rate cut. This was rejected by the RBI then.

The ministry does not have a representative on the MPC, unlike in a few countries including the central bank in New Zealand and Bank of Japan, where the policy board deciding on interest rates has a representative who is either the Finance Minister or his delegate. This representative does not have voting rights but can express opinions and submit proposals and request the policy board to postpone a vote on proposals until the next monetary policy meeting.

Earlier, the RBI had a Technical Advisory Committee during the Y V Reddy era. It had external experts such as economists with the Governor taking the final call later. This committee had two directors from the RBI board, the rationale being that all operations were under the umbrella of the board and that it was important that there was no contradiction between the board and a committee on interest rate setting with no representation from the board.

The way forward

A former central banker reckons that a sensible course could be to invite or make the Secretary, Economic Affairs, a special invitee after the approval of the MPC. That would not be barred by law, he says, and it would help in the Finance Ministry put across its views to the committee. Raghuram Rajan, during whose period as Governor the RBI and the government entered into an agreement on a monetary policy framework, had said that a monetary policy committee would bring more minds to bear on policy setting, preserve continuity in case a member had to quit or retire, and be less subject to political pressure - which made him back the proposal. India's MPC is relatively new, but globally central banks now have the challenge of low inflation even as growth soars like in the US. A new government in India may also take a relook at the policy framework with the winds of changes blowing globally.

THE EDITORIAL PAGE

WORDLY WISE

EVERYONE SEEKS PEACE.
EVERYONE SEEKS A BETTER LIFE.
— NELSON MANDELA

The Indian EXPRESS

FOUNDED BY
RAMNATH GOENKA

BECAUSE THE TRUTH INVOLVES US ALL

EASE THE FLOW

RBI's tight monetary policy has kept real interest rates high, impacting investment flow and job creation

BETWEEN JANUARY 2018 and January 2019, India's consumer price inflation has fallen from 5.07 per cent to 2.05 per cent, year-on-year. Yet, the State Bank of India's MCLR or marginal cost of funds-based lending rate for three years has gone up from 8.10 per cent to 8.75 per cent. It isn't the only one. Even HDFC Bank's three-year MCLR — the rate below which a bank cannot lend and supposed to reflect its average cost of deposits or borrowings for the particular maturity — has increased from 8.6 per cent to 9 per cent in the last one year. ICICI Bank, likewise, has raised its MCLR for one year from 8.2 per cent to 8.8 per cent. But it's not lending rates alone. Even yields on 10-year government of India bonds have fallen only marginally from 7.67 per cent to 7.37, despite inflation sliding so sharply.

Simply put, what we have today are very high "real" rates of interest. If businesses are borrowings at not less than 9 per cent — micro, small and medium enterprises would obviously be paying much more — when inflation, whether based on the consumer or wholesale price index, is below 3 per cent, it is something serious. During 2012-13 and 2013-14, the last two years of the UPA government, consumer price inflation averaged 9.7 per cent, whereas benchmark prime lending rates ranged at 9.75-10.25 per cent. Under the Narendra Modi government, average consumer inflation has come down to 3.6 per cent in 2017-18 and 2018-19 (till January 2019). If despite that, even the sovereign's borrowing cost is now about 7.4 per cent and banks have actually hiked lending rates, the reason for the current economic slowdown is clear. High real interest rates for a prolonged period is why investments have slowed down and very few jobs are being created. The source of it has been the RBI's tight monetary policy. That made sense in the initial years of the Modi government, when a firm commitment to low inflation and macroeconomic stability helped restore investor confidence badly dented during the loose fiscal and monetary policies of the UPA years. But the tightening has gone on for too long, which the Modi government and the RBI under a new, less orthodox governor have realised.

What can be done to bring down interest rates to reasonable "real" levels? The RBI should cut its overnight lending or "repo" rate in the next policy review meeting in April; it can even go in for a 0.5 percentage point reduction, instead of the usual 25 basis points. The central bank could also consider more open market operations to bring down bond yields across all maturities. The government, too, should slash interest rates on the Employees Provident Fund, small savings and other administered schemes.

ELUSIVE JUSTICE

Political rivalry casts a shadow on Colombo's commitment to UNHRC to probe war crimes

THE BAND-AID PLASTERED on Sri Lanka's badly broken government last December was never going to be able to hold it all back. The bad stuff has begun to seep out again, and is now all set to travel to Geneva. President Maithripala Sirisena has said his country does not want to be pressured by other countries in resolving the issues that remain from the ethnic conflict that ended in 2009, and that Sri Lanka needed "space" to settle these problems. This is no less than an about turn on a commitment given by the Sirisena government in 2015 at the United Nations Human Rights Council (UNHRC).

Prime Minister Ranil Wickremesinghe, removed by Sirisena last November and reappointed the following month after the Supreme Court held his dismissal illegal, has come out against the President, and declared that the government will keep its commitment to the UNHRC. The President is sending his own delegation of handpicked parliamentarians to the session, which is prepping to make a separate representation when the UNHRC takes up Sri Lanka's case on March 22-23. This latest episode in a now four-year long political theatre risks making Sri Lanka a laughing stock on the global stage. Colombo rushed to set up the Office of the Missing Persons to look into the complaints by families of thousands of men and women who disappeared during the nearly four-decade-long war only last March, after being rapped severely on the knuckles for not keeping to even a fresh timeline on its UNHRC commitments. In October, it rushed a bill through parliament for setting up an Office of Reparations, after a long and polarising debate. Sri Lanka had also agreed to set up "a commission for truth, justice, reconciliation and non-recurrence" and the Wickremesinghe government submitted a concept note to the Cabinet in this regard earlier this year. But there is no word yet on the other commitment to establish "a judicial mechanism... to investigate allegations of violations and abuses of human rights and violations of international humanitarian law, as applicable" which would include "independent judicial and prosecutorial institutions led by individuals known for their integrity and impartiality".

Both Wickremesinghe and Sirisena have made it plain that it would be better to draw a line under the accountability for war crimes question and "move on". Both have their eyes on the upcoming presidential election. For those affected by the war and hoping for justice, the wait just got longer.

FREEZE FRAME

E P UNNY

The mediation trap

Framing of the arbitration in Ayodhya dispute as an attempt at reconciliation raises questions

PRATAP BHANU MEHTA

THE RAM JANMABHOOMI-BABRI Masjid dispute has long been accompanied by a sense of foreboding. The dispute has been historically charged, politically divisive and communally violent, putting both the nation and the Constitution at risk. So putting the dispute into mediation under the aegis of the Supreme Court evokes a resigned weariness. For decades, the Court abdicated its role and is now openly admitting that conventional legal and constitutional tools are powerless in the face of faith. So it is placing its hopes for "reconciliation" on mediation. The keenness to take this issue off the agenda is such that all parties hope India can move past the Ayodhya moment. It is hard to grudge an attempt at "reconciliation".

But the weariness leading us to accept the mediation is also accompanied by a profound wariness of what might transpire. Before we come to the politics, it is hard not to remark on the spiritual hollowness of this moment. What is the framing of the mediation that should be acceptable? If the mediation is about getting the parties to the title dispute agree to an outcome, this remains something like a property mediation. If the framing is of reconciliation, then the question is: Who exactly is meant to reconcile with whom? And on what terms? The very framing of this dispute as one that requires reconciliation is an admission of defeat. It is an admission that the dispute is not going to be adjudicated on the terrain of truth, justice or due process.

The framing gives into one deeply problematic premise. The premise is that this is a dispute between two communities that require reconciliation. But who are these communities? Who was feeling unreconciled to their fellow citizens in the first place? Wasn't the sense that "minorities" need to give a gesture to show their good intent already a nefarious piece of politics? Some Hindus want a temple. But what about those Hindus who think there was a temple on that site that was demolished in medieval India, but that it is still not sufficient grounds for building a temple there? What about those devotees who think that given our recent history, a just reconciliation would involve none of the traditional symbols — mosques and temples — triumphing over the site? Instead, the site should be an expression of a common hope for the future, a true Ram Rajya, not a reminder of sectarian divisions.

> There have been past attempts at mediation. The fact that they were overtly political was actually their virtue, not their failing. At least they openly acknowledged there is a politics to this. If this indeed is about sentiment, then India needs a larger political settlement against communalism, against the idea that our conception of citizenship and nationhood is tied to some story about medieval India that both the Left and Right have peddled.

What about those whose keen devotional and historical sense tells us that Ram's greatest triumph was that he did not become a totem in the games of sovereignty and power? In fact, there is a real danger, already apparent, that the cultural and spiritual sovereignty of Ram that was so creatively engineered by the brilliance of figures like Tulsidas is being overturned. In this construction, Ram is a constant, intimate presence: The Vaishnava turn that centred on "Sri Ramchandra kripalu bhaja man" was an audacious piece of spiritual thinking, the beating heart of Hinduism in North India. Those who believed all this were never in the need of being reconciled. In fact, they worried that Ram was being reduced to a coarse game of majoritarianism; diminished by being aligned with a hateful and reactionary politics and rendered spiritually bankrupt by being reduced to a totem of sovereign power. If this is a reconciliation between communities, will these voices be represented? Or is the reconciliation only for those who want to monopolise Ram as a vehicle for historical revenge, whose sense of feigned insecurity requires a catharsis?

Then there is the politics of the occasion. There are three traps: Timing, personal and framing. Although ostensibly the Court has taken the issue off the agenda by giving eight weeks, it would be foolish not to see that the timing of the attempt subtly helps the BJP. While the Court has probably acted with the best intent, the timing will lend fillip to one of BJP's central claims. The claim is this: Hindu demands are taken seriously only when it is in power. The mediation may not result in much. But the underlying gesture involved in the Court claim that this is about "sentiment" has an elective affinity with BJP's politics. Sending it to mediation can be claimed as progress.

I happen to think that Sri Sri Ravi Shankar's appointment as mediator is deeply problematic. He has an openly declared position on the issue, has more or less intimidated institutions arguing that violence will ensue if a temple is not built, and represents the unsavoury aspects of a modern entrepreneurial figure to whom proximity to power matters more than spiritual values.

There is a third sense in which this mediation attempt is a trap. Suppose for moment that the only two alternatives on the table are building a temple at the site (with some mosque being built somewhere else), and not building a temple. Now imagine if the mediation fails to secure a temple. Let us not put too delicate a point on this. Who do you think will be blamed? On the other hand if a temple is secured, who do you think will claim the triumph? We may not know how the issue plays out in this election. But unless there is a larger political commitment to making sure that the outcome of the mediation is not politicised one way or the other, the issue will continue to simmer.

In this sense the Court has not understood the logic of its own claim that this is about sentiment. If it is about sentiment, why should three mediators or the small groups have any more imprimatur than the Supreme Court of India? The Allahabad High Court's judgment was a case of panchayati justice. But it did shrewdly realise that putting the onus on parties to find a solution makes them possible political targets.

There have been past attempts at mediation. The fact that they were overtly political was actually their virtue, not their failing. At least they openly acknowledged there is a politics to this. If this indeed is about sentiment, then India needs a larger political settlement against communalism, against the idea that our conception of citizenship and nationhood is tied to some story about medieval India that both the Left and Right have peddled. It remains to be seen whether this mediation can turn the needle on these large issues. For India's sake, we hope the mediation can transcend the limitation of its framing, and think of a truer reconciliation, one where no community triumphs. Only India and its constitutional values does.

The writer is vice-chancellor of Ashoka University. Views are personal

NO MORE OPIUM, PLEASE

It is time to thank God for services provided and jettison the concept

IN GOOD FAITH

TAHIR MAHMOOD

"FOR GOD'S SAKE conduct God out of our national frontiers" is an appeal I have long been longing to make to fellow citizens but, conscious of the morbid religiosity prevailing in the society, have been a bit ambivalent. Kaushik Basu's article, 'About divinity' (IE, March7), comes as a shot in the arm and his so-called third hypothesis — "there is god but he is not that powerful" — is just the fillip I needed.

The awkward question of whether God exists or not has been posing itself to mankind throughout history and nobody could ever give a decisive answer. There have always been all sorts of people in the world — firm believers, convinced unbelievers, fanatics, atheists, agnostics and nihilists. The sickening obsession with religion in general in the mid-19th century had prompted Karl Marx to call it the "opium of people". But in our time, particular religions seem to be the opium of particular people.

Modern nation states have chosen one or another religion — expressly under national constitutions or by implication in practice — as their natural and, hence, privileged faiths. This often plays havoc with followers of the other locally prevailing creeds. Paying lip-service to the belief in one omnipotent and omnipresent God, each religious community reserves God's benevolence for itself, leaving others at the mercy of their own gods who seem to be less powerful than theirs.

> Modern nation states have chosen one or another religion — expressly under national constitutions or by implication in practice — as their natural and, hence, privileged faiths. This often plays havoc with followers of the other locally prevailing creeds. Paying lip-service to the belief in one omnipotent and omnipresent God, each religious community reserves God's benevolence for itself, leaving others to the mercy of their own gods who seem to be less powerful than theirs.

In my school days, I read in a Hindi textbook a passage which, still stuck in my mind, would read in English as: "On initially coming to the world, man had faced grave problems for whose solution he had given birth to God. But poor God instead of solving man's problems, himself became his biggest problem." Today, the truth of this proposition can be witnessed throughout the world. A man vs man tug of war is being played in the name of religion. Human rights, ironically believed to be enjoined by every religion, are the biggest casualty of religious zealotry.

The evil of religious inhumanities provokes me to share the questions Epicurus had once put forth: "Is God willing to prevent evil, but not able? Then He is not omnipotent. Is He able but not willing? Then He is malevolent. Is He both able and willing? Then whence cometh evil? Is He neither able nor willing? Then why call Him God?"

I was once a firm believer in the existence and omnipotence of God. But observing what is happening in the name of religion has made me irreligious. I cannot resist now sharing the agony of a great a jurist-judge of India, V R Krishna Iyer: "Religion is a terrible Satan in its decadent status when people plunge into spiritual illiteracy, miss the divine essence of the lessons of the sages, prophets and seers and kiss the holy nonsense of 'my religion right or wrong' and 'my religionists alone to me belong'. In this vulgar barbarous degeneracy humanism dies and values of tolerance and compassion perish. In the perverse reversal of higher meanings the man on earth becomes the blind ammunition of divine rivals in the skies." (*Abdul Hussain*, 1975)

The learned judge's sardonic reference to "divine rivals in the skies" reminds me of how poet Vipin Jain, on seeing human miseries being inflicted in the name of religion, had once lamented: "Burning human life like coal turning into ashes, I look at these tears, miseries and crashes; who caused this world burn with such brutal flame. whom shall I question who do I blame; do I ask my God or your God or my own soul. I am confused as to who rules the world as a whole."

The late Enver Hoxha, leader of the communist regime in Albania till 1985, had once said that in a bid to avoid horrors of religious rivalry and bigotry his country had "conducted God out of its frontiers thanking Him for His provisional services". It is high time, in my opinion, for our beloved motherland to follow suit. Only that can, perhaps, retrieve our perfect religious harmony.

The writer is a professor of law and former chair of National Minorities Commission

MARCH 11, 1979, FORTY YEARS AGO

Soviet Union to supply 6 lakh tonnes of crude in exchange for rice

DEAL WITH RUSSIA

THE SOVIET UNION will supply an additional 6,00,000 tonnes of crude oil to India in exchange for rice. This is the outcome of the high-level Indo-Soviet talks going on in the capital. New Delhi had asked Moscow to step up its crude supplies to India to enable the latter to meet the oil shortage caused by developments in Iran. The Soviet prime minister, in a letter to his Indian counterpart, Morarji Desai, had agreed to do so in exchange for half-a-million tonnes of wheat from India. At the talks in Delhi, PM Desai suggested that because of domestic and international commitments it was not possible for India to spare half a million tonnes of wheat but India would be willing to give an adequate quantity of rice instead.

IRAN WOMEN PROTEST

THOUSANDS OF WOMEN walked out of their jobs to protest against the attempts to curtail their freedoms under a proposed Islamic Republic in Iran and ran into a group of religious zealots who beat and stabbed at least one of the demonstrators and injured several others. The attack by an Islamic orthodox group came as the fist-waving women marched by the British embassy near Teheran's main Ferdowsi Street. As the demonstrators dressed in blue leans and skirts made their way through, two bearded Muslim clergymen appeared. One of the mullahs jumped atop a bus and shouted, "Let me know your complaints and I'll take them to the Ayatollah."

US-EGYPT TALKS

WINDING UP HIS talks with Egyptian President Anwar Sadat, on West Asia peace in Egypt, United States President, Jimmy Carter said that he was going to Israel with "difficult issues still to be resolved". Sadat, standing by Carter's side under sombre grey skies near the great pyramid of Giza, endorsed Carter's assessment and wished him well on his visit to Israel later in the day as a part of the continuing attempts to broker a deal.

WHAT THE OTHERS SAY

"As long as India and Pakistan refuse to deal with their core dispute — the future of Kashmir — they face unpredictable, possibly terrifying, consequences."

— THE NEW YORK TIMES

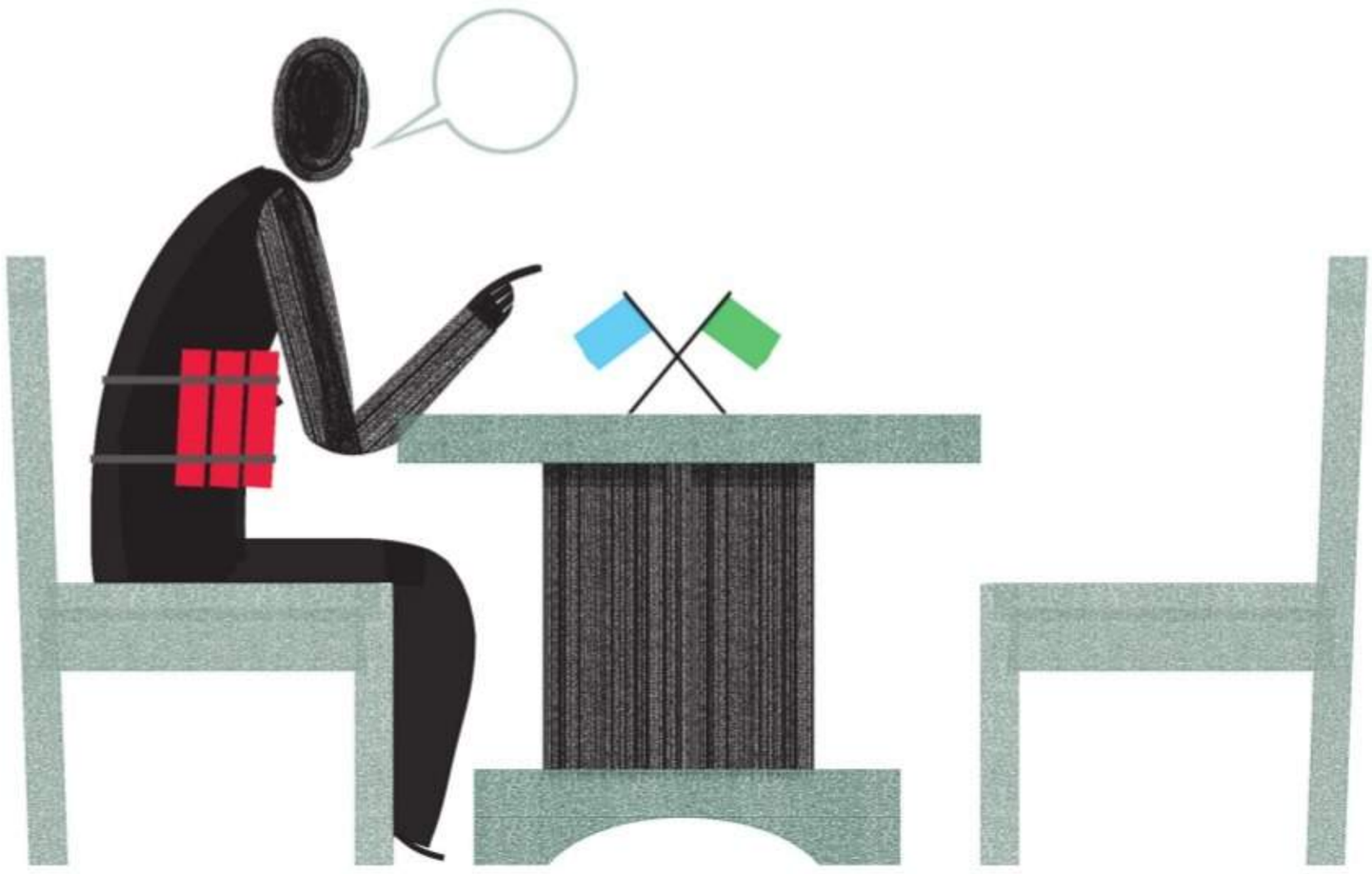

C R Sasikumar

The Post-Balakot challenge

India's response to the Pulwama terrorist attack does signal a break from the past. But there is no clarity if the contours of a new approach have been drawn

VIVEK KATJU

AS THE EVENTS set in motion by the Pulwama attack wind down, one point, always present in India-Pakistan relations, bears reiteration. The relationship relates not only to India's external interests and foreign policy but also, in almost equal measure, to the country's politics and social equations. That explains, perhaps, the absence of serious discussion on the Pakistani reality, the prevalence of entrenched reflexes of the political and security classes and the media, projection of the complex relationship as a mixture of a high decibel gladiatorial contest and a raucous *tamasha*.

All this was on display in the weeks after the Pulwama attack and distracted attention from what in the aftermath of the attack should have been the national focus — how to end Pakistan's terrorism, which has continued for almost three decades. Instead, popular attention by itself, and intensified by the media, was on the politics over the entire sequence — Pulwama, the Balakot response and the Pakistani counter. It was also on the grieving families of the victims of Pulwama and the capture and return of Wing Commander Abhinandan Varthaman. It was right for the nation to share the grief of the families and rejoice in Abhinandan's return and for the media to report but not at the cost of the root of the problem.

The post-Uri attack surgical strikes had marked a major shift in India's response to Pakistani terror. India had then announced that it had taken the military action in Pakistan-controlled territory but had emphasised that it had targeted only terrorist launch pads. The surgical strikes were undertaken in a manner that provided Pakistan an opportunity to deny them and therefore, foreclose the possibility of escalation though at the cost of an erosion of its nuclear overhang doctrine.

The Balakot action was designed to send a much stronger signal of the Indian resolve to not refrain from acting militarily on Pakistani sovereign territory in the wake of an unacceptable terrorist attack. At the same time, as after the surgical strikes, India went to great lengths to stress that it had only targeted a terrorist facility. Have the surgical strikes and the Balakot action set a new criterion which no government will be able to avoid notwithstanding the Pakistani counter? How will these impact India's anti-terror approach?

In the past, the preferred Indian approach was defensive; it absorbed terror and relied on diplomacy and political management to cool outraged Indian sentiment. It took solace in the assessment that Pakistani terror did not constitute a strategic challenge. There is now a break from the past but there is no clarity if the new approach is fixed. There is need to look at its full contours and implications. What is certain is that Pakistan and the international community will have to factor in their calculations India's willingness to bring its conventional forces into play in the wake of an unacceptable terrorist attack.

Till now Pakistan had sought to paralyse the possibility of an Indian conventional military force reaction after a terrorist incident through its nuclear overhang threat. Now it will have to think anew especially as the international community knows that Pakistan does harbour terrorist groups that act against India with or without state involvement. It is unlikely though that Pakistan will give up the use of terror. Hence, if India wants its end, it will have to consider it as a strategic challenge and use all elements of national power in a sustained manner over a long period.

Isolated steps such as the withdrawal of the MFN status, denial of visas to sports teams and the decision to use all the waters of the eastern rivers under the Indus Waters Treaty — even if feasible — are toothless. They may contribute to bringing down Indian anger but will be ineffective in moderating Pakistani thinking or action. Will the resumption of a comprehensive dialogue as Pakistan wants and emphasised again and again by Prime Minister Imran Khan influence Pakistan to abandon terror?

> Isolated steps such as the withdrawal of the MFN status, denial of visas to sports teams and the decision to use all the waters of the Eastern rivers under the Indus Waters Treaty — even if feasible — are toothless. They may contribute to bringing down Indian anger but will be ineffective in moderating Pakistani thinking or action.

The Composite Dialogue to promote cooperation, address outstanding issues and handle humanitarian concerns was begun in 1998. Soon after this author told a prominent Pakistani politician, who has always professed a commitment to India-Pakistan peace, that as the two countries had embarked on a serious and comprehensive engagement, Pakistan should give up its support of terrorist groups acting against India. His reply "*Agar hum yeh band kar dein toh aap hamse baat kyon karenge*"? (If we were to stop this why would you talk to us?)

Has this Pakistani premise changed during the course of the last two decades? Every time India resumed talks after a terror strike, though after a hiatus, the view expressed by the Pakistani politician has been reinforced.

India has to insist that unless terror ends, the resumption of the dialogue will be pointless. This is an entirely reasonable proposition and should be projected to the international community. It is noteworthy that except for a muted Chinese statement that sovereignty should be respected, no country has criticised the Balakot action. There is therefore a recognition that India's strategic patience is over and that Pakistani terrorist adventurism should cease. India should emphasise this point. The international desire that hostilities should end is on a different footing as is the US's intervention for this purpose. The question is if all this erodes India's policy of no involvement of third parties in India-Pakistan relations. The fact is major powers take an interest in issues of war and peace — as does India in areas where its interests get involved.

Pulwama, Balakot, the Pakistani counter, Abhinandan's quick return will undoubtedly become election issues. The BJP will seek to cash in on Prime Minister Narendra Modi's decisiveness and how Pakistan was taught a lesson. The Opposition will try to deny him this advantage. In the shrillness that will ensue, a serious consideration of India's Pakistan policy will have to await another day. But will that day ever dawn?

The writer is a former diplomat

Men of law, not faith

SC seems to have learnt from its mistakes in Bhopal case while setting terms for Ayodhya mediation. However, it must relook at the panel

INDIRA JAISING

MEMORIES OF the Union Carbide case came rushing to mind when I read the order in the Ayodhya case by a five-judge bench of the Supreme Court (SC) ordering a formal mediation. There, too, a settlement was recorded, but behind the backs of the parties; a settlement in which only the Union of India and Union Carbide were parties and the victims were ignored. The settlement absolved Union Carbide of all criminal and civil liability for a paltry sum of $450 million. Later, due to the protest of the victims, the criminal proceedings were restored and are still going on. Remember, the disaster occurred in 1984.

The SC has learnt from that mammoth mistake. This time, the affected parties participated in the proceedings. Some of them did object to the proposed mediation on the ground that these were "matters of faith" but the Court went ahead and appointed mediators.

The Court records there is lack of consensus on the need for mediation but having regard to the "nature of the dispute" feels compelled to order that "an attempt should be made to settle the dispute by mediation". The Court has not clarified under what provision of law the order has been passed but feels inspired by Section 89 of the Civil Procedure Code. The Section applies for settling of disputes "outside court" when it appears to the court that "elements of a settlement" exist. The Section visualised several modes of settlement — arbitration, conciliation, judicial settlement or mediation. If the mediation is under the Arbitration and Conciliation Act 1996, it is binding as an award. This order is clearly not under the Arbitration and Conciliation Act, which is welcome. The SC has left open the question of challenge to any possible terms of settlement under the law, indicating clearly that a settlement cannot be forced on anyone.

We must thereof assume that inspired by Section 89, the SC has directed the parties to attempt to settle the dispute, leaving both parties to contest the possible terms of the settlement and make it non-binding. We must assume that the Court has exercised its inherent powers under Order LV Rule 6 which says, "Nothing in these rules shall be deemed to limit or otherwise affect the inherent powers to make such orders as may be necessary to meet the ends of justice or prevent abuse of the process of the court."

In doing this, the SC has behaved in a statesman-like manner, leaving its judicial role to surface later. It seems the Court was of the opinion that certain disputes are not quite easy of judicial resolution and require a "healing touch". After all, no court wants to see its own judgments violated and slandered, as with the Sabarimala judgment. Settlement by consensus is one way of settling a dispute, provided that both parties negotiate on an equal basis. In this case, unfortunately, the negotiation is taking place in the shadow of the demolition of the Babri Masjid and no responsibility had been fixed on the political party, the same party that is in power today and that spearheaded the demolition in 1992. The bargaining position is, therefore, not equal. The Court should have put in place safeguards to correct this imbalance. Keeping the proceedings confidential is not a sufficient safeguard. Keeping out political or electoral considerations would be more important .

The other order passed is to conduct the negotiation proceedings in confidence and that there ought to be no reporting of the proceedings. This is a welcome order. Political parties and chief ministers have made cynical use of the case for cheap electoral gain. If politics is all there is to the case, why go to court at all?

One disappointment comes from the mediators chosen, without meaning any disrespect to them, they could have been better chosen. The mediation needed people of national stature and those who are not "men of faith". There has also been criticism that since Sri Sri Ravi Shankar is guilty of contempt of court for refusing to pay the compensation ordered by the NGT for damage to the environment, why was he chosen? Does the Court not want men who respect the judiciary to be in such a responsible positions, virtually substituting for a judge? Why undermine your own authority? Why should "men of law " hand over responsibility to "men of faith"?

We have in the recent past seen many pictures of judges making temple visits, many of them undoubtedly must be devotees of Sri Sri Ravi Shankar, why then was he appointed a mediator? Why give room to allegations of bias once the process is over. The names of the mediators must surely be reconsidered before it is too late.

The writer is former Additional Solicitor General of India and founder of founder of The Leaflet, a legal portal

LETTER TO THE EDITOR

DIFFERENT STROKES

THIS REFERS TO the article 'A means for re-invention' (IE, March 8). The intention of forging alliances just to defeat PM Narendra Modi, is too evident to the public. The Congress sees a chance to upstage Modi because they have tasted blood in three states on the strength of Rahul Gandhi promising the moon to the blind. There is no real narrative by the Opposition to convince people about how they can be better at governance. The Opposition must chart out a decisive game plan that showcases their intentions to govern better. They must forge alliances of like-minded parties, not just convenient partners, if they are really to be taken seriously.

Bholey Bhardwaj, *Mumbai*

WOMEN'S IMPACT

THIS REFERS TO the article "Making the world a meaningful place" (IE, March 8). According to the World Bank, the benefits associated with girls' education include reduction of child and maternal mortality, improvement of child nutrition and health, lower fertility rates and growth in economic production. Since independence, the judiciary has pro-actively interpreted and amplified the ambit of legislative provisions, too, in favour of the women of our country. So, a promise from the local governments and the community itself to ensure the safety of free movement for women on international Women's Day would be most fitting for the occasion.

Sambhu Nath Chowdhury, *Hooghly*

This refers to the article 'Making the world a meaningful place' (IE, March 8). There is little doubt that educating girls serves the society in a much better way. There is no dearth of educational institutes for girls in our country. But the path girl students tread to get to their schools/colleges is literally strewn with thorns. Safety of girls, like facilities for their education, must be the top priority of the government. Moral values must be imparted to boys at home.

Samiul Hassan Quadri, *Bikaner*

LETTER OF THE WEEK AWARD

To encourage quality reader intervention, The Indian Express offers the Letter of the Week award. The letter adjudged the best for the week is published every Saturday. Letters may be e-mailed to editpage@expressindia.com or sent to The Indian Express, B-1/B, Sector 10, Noida-UP 201301. Letter writers should mention their postal address and phone number.

THE WINNER RECEIVES SELECT EXPRESS PUBLICATIONS

STRIKING FREE PRESS

THE GOVERNMENT IS trying to take action against a newspaper under the Official Secrets Act which had published an article in favour of the greater public good. Such an action on part of the government might be a threat to the democracy and freedom of the press. All the pivotal changes in our country are more or less the result of a journalist being brave enough to dig out the truth and present it to the public. Such an act also violates the people's right to know and takes away the democracy our freedom fighters fought and died for — considering the Official Secrets Act is a British-era rule.

Nishtha Arora, Rajpura, *Punjab*

VIEW FROM THE NEIGHBOURHOOD

A weekly look at the public conversations shaping ideas beyond borders — in the Subcontinent. Curated by Aakash Joshi

DEALING WITH TERROR

NAJMUDDIN A SHAIKH, a former Foreign Secretary of Pakistan, asks India, Pakistan and the world to "verify the facts" of the Pulwama case. In an article in the Pakistan daily, *Dawn* on March 7, Shaikh begins by saying that while "the armed forces on both sides remain in a state of high alert and are distrustful of each other's intentions it does seem that some back channels contacts have brought acceptable assurances and permitted the resumption of bus and train services, and of contact on the Kartarpur Corridor."

The former foreign secretary then focuses on the attack itself and suggests that the Jaish-e-Mohammad claiming responsi- bility was, perhaps, more a matter of con- venience than of actual involvement. "It is certainly true, as a perusal of the JeM pub- lications after Feb 19 shows, that they claimed credit but this is exactly what Al Qaeda and the militant Islamic State group and other terrorist organisations repeatedly did when attacks were carried out in their name. They even claimed attacks that had not been explicitly associated with them. Still, that was to be expected and should have been recognised as such rather than leading to every report that the JeM's claim of responsibility was established and provided the justification for a violation of Pakistan's sovereign territory," Shaikh asserts.

The former foreign secretary also asks for better diplomatic minds to prevail, and asks India to focus on Kashmir and the alienation among the people of Kashmir — a key cause for the attack. Talks cannot be delayed for long, he contends.

The editorial in *Dawn* on March 7, 'FATF Action Plan' enjoins the Pakistan government to take seriously the implementation of the action plan it has provided to Financial Action Task Force (FATF), the Paris-based global terror financing watchdog. "Having narrowly averted being blacklisted in February, the government must not allow history to repeat itself. The same steps have been taken by previous governments as well, only to be allegedly stymied by the powerful handlers that these groups have."

The editorial emphasises that Pakistan should provide not even a modicum of shelter to terrorist/fundamentalist outfits: "Today, we face the prospect of being put on the blacklist if concrete steps are not evident to what will undoubtedly be a sceptical FATF audience in June. These groups and their existence on Pakistani soil have become much more than a nuisance and an embarrassment.It is quite clear that none of them should have any presence here. The finance secretary's remarks need to be absorbed fully and earnest action against proscribed groups must be taken immediately to eliminate the scourge once and for all."

GOVERNANCE HIT

THE ONGOING POLITICAL drama in Sri Lanka seems to be taking its toll on governance. The March 5 editorial in *The Island* asks that politics not interfere at least with the process of approving the budget. However, there is some hope, despite the political acrimony that better minds among the political class will carry the day when it comes to the polls. "A UNF minister has proved that not all yahapalana bigwigs are impervious to reason. Minister Eran Wickramaratne is reported to have said that the conduct of polls should not be left entirely to the discretion of politicians, and the dates of all elections have to be constitutionally stipulated. This is a sensible idea which deserves to be heeded by the senior leaders of the government and the Opposition alike. There may be a constitutional provision for changing the dates of elections, under extraordinary circumstances, to prevent the country being thrown into turmoil, but, overall, there has to be predictability where polls are concerned," the editorial points out.

JUSTICE OR VENGEANCE

THE LIFE SENTENCE to former Nepal legislator Resham Chaudhary, and 10 others, for the killing in 2015 of eight police personnel is being welcomed as justice being done. In contrast to other parts of South Asia, there has been a little clamour for the death penalty. *The Himalayan Times'* editorial on March 8, 'Poetic Justice,' notes: "The kin and kith of the fallen victims have welcomed the verdict and said justice has been done. The supporters of the accused have, however, cried foul at the verdict. The RJP-N leadership, which conspicuously withdrew its support to the government shortly after the verdict, has termed it 'shocking'. Chaudhary had contested the parliamentary election from Kailali Constituency-1 and also won in absentia with a huge margin of votes." But, despite the apparent politicisation of the case, justice has been done at it must be welcomed. The verdict also acts a deterrent to other would-be-offenders, the editorial says.

An open field

Constituency-level issues and national meta-narratives hold the key in U.P.

The Election Commission announced the Lok Sabha poll schedule on Sunday, and there is little doubt that the final outcome will be determined in great part by the vote in Uttar Pradesh. By including 11 candidates for U.P. in its first list last week, the Congress has reiterated its inclination to contest alone in the critical State in the absence of a deal with the Samajwadi Party and the Bahujan Samaj Party. Though the Congress decision does not entirely shut the doors on a joint front of anti-BJP parties in U.P., the chances of such a formation are turning bleaker. There is no way of discerning the likely impact of a multi-cornered contest in the State, but in 2014 the scattering of the anti-BJP vote in the State helped Prime Minister Narendra Modi get 71 of the 80 seats, vital to gaining an absolute majority in the Lok Sabha. An equally sweeping victory for the BJP in the 2017 Assembly election initially appeared to reinforce Mr. Modi's aura of invincibility, but this soon turned out to be the trigger for a series of developments that cumulatively pose a challenge to his bid for a second term at the Centre. Facing irrelevance, regional parties such as the SP, the BSP and the Rashtriya Lok Dal felt compelled to bury the hatchet and form a front against the Hindutva challenge. This reconfiguration appeared to make an emphatic turn in the State's politics, and the BJP lost all the three Lok Sabha by-elections that followed. It is in this landscape that the Congress is trying to resolve its indecisiveness about going it alone.

Yet, there is uncertainty at the granular level. Aspirants are being shunned by each party, resulting in a pool of disgruntled local actors now scurrying for shelter in other parties. The SP and the BSP will be contesting less than half their usual number of seats; the BJP is certain to replace a large number of its sitting MPs to reduce anti-incumbency at the constituency level. The Congress, though without an organisational base in the State, has the claim to be the national challenger to Mr. Modi. It might be tempted to rope in some of these dissidents from other parties, while remaining open to the possibility of an alliance. The shifting loyalties of individual leaders will have an impact on the caste coalitions that all parties factor into their calculations. An overarching social coalition of Dalits, backwards and Muslims in U.P. blocking the Hindutva advancement in 2019 is a possibility, but only one of several. Mr. Modi's strategy in the midst of this realignment of social groups in the State will be to pull his own campaign above local factors, and make it into a Hindu nationalist meta-narrative. The ongoing tensions with Pakistan and the debate on Ayodhya provide him with enough rhetorical tools. The terrain of U.P. has been fertile for this kind of politics too, a politics that makes nonsense of the accretion of vote banks through seat adjustments.

Resolution, at last

Essar Steel case has clarified many aspects of the Insolvency and Bankruptcy Code process

The National Company Law Tribunal's approval of ArcelorMittal's bid for the insolvent Essar Steel Ltd. is significant for several reasons. First, the ₹42,000-crore bid will be the largest single recovery of debt under the fledgling Insolvency and Bankruptcy Code (IBC) enacted in 2016. Assuming that the original resolution plan submitted to the NCLT stands, the secured lenders will manage to recover about 85% of their dues. The 15% haircut that they will suffer should be seen against the extraordinarily high amount of over ₹49,000 crore that is due from Essar Steel. Second, the case, which took 583 days to resolve, compared to the 270 days provided under the Code, has tested several aspects of the law and set important precedents for the future. Among the aspects that have been clarified during the long resolution process for Essar Steel are the eligibility of those who have defaulted in repaying their borrowings elsewhere to bid, the time-limits for bidding and the place of unsecured, operational creditors under the resolution mechanism. Finally, this was seen as a marquee case for the IBC, given the high profile of the company and its promoters, and the amount at stake. The battle royal between multinational players to acquire the insolvent company was proof, if any were needed, of the quality and importance of the underlying asset. In the event, the successful culmination of the Essar Steel case will be a big leg-up for the insolvency resolution process that is less than three years old.

To be sure, though the NCLT has given the go-ahead, the last word on the subject may not have been heard as the existing promoters could go in appeal against the verdict. The Code provides for an appeal to the National Company Law Appellate Tribunal and then to the Supreme Court, and it is unlikely that the promoters, who bid a much higher ₹54,389 crore, will let go without a fight. The banks, though, will be hoping that the process ends in the next couple of weeks as they would want to account for the receipts from the resolution process within this financial year. After all, only four cases (excluding Essar Steel) out of the initial list of 12 big defaulters referred by the Reserve Bank of India for resolution back in June 2017 have been successfully resolved till now. Insolvency and Bankruptcy Board of India data also point to a pile-up of cases in the various benches of the NCLT. As many as 275 companies, representing 30% of the total of 898 undergoing resolution, have exceeded the 270-day limit set for resolution under the Code. This can be partly explained by the attempt of promoters to tie down the process through appeals at every stage, but the fact is that there is a need for more benches of the NCLT to clear the pile-up. The government would do well to look into this issue.

Bringing politics back in

It must not be evicted from the public sphere on issues of national security

HAPPYMON JACOB

In the wake of the Pulwama terror attack last month, politicians and opinion makers made impassioned pleas that 'terror attacks should not be politicised'. There was also a strong popular sentiment for disassociating politics with what happened post-Pulwama. Unsurprisingly, the demand for dialling down politics was proportional to the demands for increased militarisation. The trust in politicians was replaced with an abiding belief that the men in uniform would save the day for India. When questions were raised about the basis of the Bharatiya Janata Party's statement that over 250 terrorists were killed in the attack on Balakot – an increasingly suspect claim –it was argued that such questioning would weaken the morale of the armed forces and help the Pakistani narrative. For a proudly and deeply democratic country such as India, this scorn for politics is both perplexing and worrying.

Politicising terrorism?

The calls for refraining from politicising acts of terror also apply to most matters of national security. The strong belief, often convincingly articulated by leading thought leaders, that national security must be divorced from politics is so entrenched in popular narratives that any attempt at discussing national security through the lens of politics is immediately discredited: "How can someone politicise something as important as national security?"

What is puzzling about such assertions is that most serious analysts and thoughtful politicians intuitively recognise that, at the end of the day, political solutions are the best answer to conflicts. And yet de-politicisation comes handy for the government since "do not politicise" also means "do not ask difficult questions", a convenient way out of a tricky situation. For the general public, this results in weariness over how the political class has managed national security problems. In that sense, then, the aversion towards politics, especially in times of crisis, is essentially a function of the failure of the way in which politics and political debates are practised, not a negation of politics per se. The solution is to offer better political reasoning, and not replace political formulations with military ones, which is often seen as the easy way out.

Popular narratives about solutions to our contemporary security problems demand the adoption of militaristic or securitised solutions as if the military has some superior capability for conflict resolution that politics doesn't. The problem with privileging military solutions over political ones while dealing with conflict resolution is that the former use a specific set of tools, discourses and methods to resolve conflicts unlike the toolkit politics uses for conflict resolution. Consider an example. Post-Pulwama, the Government of India began a security crackdown in the Kashmir Valley and airlifted around 100 companies of paramilitary forces to enforce it, a typical and time-tested military solution to the unrest in the State of Jammu and Kashmir. A political solution would have been what the then United Progressive Alliance government adopted to deal with the widespread anger in the Valley in late 2010, wherein it sent a team of interlocutors to talk to the protesting Kashmiris. The interlocutors were able to bring about a sense of normalcy almost immediately, whereas the influx of more armed

AP

men into the Valley is unlikely to achieve that.

Militarised methods and narratives also lead to de-politicisation, or the dismissal of normal politics from the public sphere, ushering in what could be called 'temporary emergencies'. Here's an example. In the immediate aftermath of the Pulwama attack, a leading Indian actress tweeted: "Anyone who lectures about non-violence and peace at this time should be painted black, put on a donkey and slapped by everyone on the streets." Put differently, she advocated that the practice of normal politics (criticism of the establishment lies at the heart of normal politics) be suspended and be replaced by a depoliticised and securitised discourse. And that those who violate such 'emergency' should be punished. When such short spells of emergency are normalised, it opens the door for more permanent securitised spaces and narratives. Kashmir, more or less reeling under spells of temporary emergencies for close to three decades now, is a perfect example.

Privileging militarisation over politicisation for conflict resolution is indeed unwise and counterproductive, an insight enshrined in the Clausewitzian dictum that war is the "continuation of politics by other means". When divorced from their underlying political intent, militarised approaches can lead to mindless violence – something democratic societies should unconditionally resist. Military means to deal with conflicts do have their limited utility, but they must be politically guided.

'Freedom to the military'

Another reflection of depoliticising security matters is the tendency to argue that the armed forces should be given complete autonomy to deal with security problems. In the immediate aftermath of Pulwama, Prime Minister Narendra Modi, for instance, declared that the "armed forces have been given complete freedom to take action", a statement that was well received by the general public. However, giving complete freedom to the military is replete with several complications, not the least of which is the indirect acknowledgement that the political class has failed to resolve the problem. For one, telling the armed forces that they are free to deal with the problem as they wish is a dangerous abdication of political responsibility which was entrusted to them through a democratic process.

Second, 'giving complete freedom to the military' is an open invitation to use military solutions to deal with what are essentially political problems. Third, and even more important, 'complete freedom' flies in the face of political control that should be the hallmark of a mature democracy. It is one thing for the general public to nurture romantic notions about military solutions, but it is dangerous for the political class to actually enshrine that in policy guidance. Popular fetishes about military force are the stuff for feel-good fiction, not policy making.

One direct implication of depoliticised conflict resolution is that it typically leads to more violence. Surprisingly, however, more violence doesn't normally lead to an introspection about the utility of militaristic tools of conflict resolution – on the contrary, it further strengthens the belief in its uses. When men in uniform die, their loss becomes a rallying cry for more violence which then leads to even more casualties – the cycle goes on until political solutions are brought in. Take any militarised conflict, and you will see this point. The fact is that every death due to violence must be avoidable, and that can only happen if statesmen and women are willing to climb down from the cycle of violence. But for that to happen, there must be a decidedly political approach to conflict resolution.

Root cause theories

There is also an entrenched popular aversion to using 'root cause theories' to explain conflicts around us. Not only are those attempting to explain conflicts by examining its root cases routinely shunned by impatient commentators, they are routinely viewed as apologists of non-state violence. While this antipathy towards root cause theorists is a function of depoliticised conflict narratives, it leads to further depoliticisation of conflicts. Depoliticised narratives aim to treat the symptoms, ignoring what gives rise to those symptoms – the latter is difficult, requires introspection and mending ways, while the former expects that military force can be used to end violence or resolve the problem at hand. Militarily framed responses to conflicts also deny justice since they can only be used to reinstate the state's 'monopoly over power', not to provide justice to the aggrieved parties in a conflict.

Let's not forget that conflicts are a function of differing political values and expectations, and the only way sustainable conflict resolution can be achieved is by bringing politics back to negotiate those differences.

Happymon Jacob teaches at the Jawaharlal Nehru University, and is the author of 'Line on Fire: Ceasefire Violations and India-Pakistan Escalation Dynamics'

The flawed unit of academic quotas

Much more needs to be done to improve faculty diversity on university campuses

FAIZAN MUSTAFA

In the history of reservations in India, Parliament has sometimes had to resort to even constitutional amendments to overturn some court rulings that have the effect of protecting the interests of 'general candidates'. The 77th constitutional amendment of 1995, which was recently extended to Kashmir, restored reservation in promotions as a nine-judge bench of the Supreme Court in *Indra Sawhney* (1992) while upholding Other Backward Classes reservation based on Mandal Commission recommendations had prohibited Scheduled Caste/Scheduled Tribe (SC/ST) reservation in promotions.

Ordinance and after

The 81st constitutional amendment was made to overturn the Supreme Court's decision against the 'carrying forward' rule, which permitted the filling of unfilled reserved seats in subsequent years. Similarly, the 85th constitutional amendment was passed in 2001 to restore consequential seniority to promotee SC/ST employees as a 'catch-up' rule introduced by the court in *Ajit Singh* (1999) was causing hardship to SC/ST employees.

Last week, the Narendra Modi government promulgated an ordinance to undo the Allahabad High Court's judgment in *Vivekanand Tiwari* (2017) which had relied on a number of other High Courts and a few apex court judgments such as *Suresh Chandra Verma* (1990), *Dina Nath Shukla* (1997) and *K. Govindappa* (2009) that had made 'department' rather than 'university' as the unit of reservation in universities.

In *Vivekanand Tiwari*, an advertisement of the Banaras Hindu University (BHU) for teaching positions was challenged. The BHU, like other Central universities, was following the University Grants Commission policy of treating 'university' as the unit for the purposes of reservation. Due to judicial discipline, Justice Vikram Nath, who authored the judgment, did not have much of choice. But then Justice Nath himself did not seem to be a votary of reservations. In the beginning, he has said, "It is not a mandate but liberty given to the state. It is an enabling provision." Thus, according to him, the government may not provide for reservation.

The importance of 'shall'

Technically speaking, he is right. But then we cannot ignore that Article 335 categorically says that "claims" of SC/STs to posts in Centre and the States 'shall' be taken into consideration. As opposed to 'may' or 'will', the use of the word 'shall', in law, means

GETTY IMAGES/ISTOCKPHOTO

mandatory. While the judgment ended at page 29, Justice Nath devoted several additional pages to make out a case for the re-examination of the reservation policy by the government though there were no pleadings on this issue. He asked it to examine whether reservation at all is needed in university teaching posts.

Our courts have used the differences between 'cadre', 'service' and 'post' to arrive at the conclusion that 'department' should be unit of reservation. So though lecturers, readers and professors in a university have the same scale and allowances in their respective cadres, they cannot be clubbed together. Since there is no scope for interchangeability of posts in different disciplines, each single post in a particular discipline is be counted as a separate post. On the face of it this seems to be perfectly logical. But the reality of the working of our universities is different. Every university spends lot of time in deciding reservation and tries to balance the completive interests and needs of various departments.

Even with the 'university' as the unit, in over 40 Central universities we have huge under-representation of SCs and STs especially at the level of professor and associate professor. If 'department' was allowed to be taken as a unit, these numbers would have been far less.

In its review petition, the government did share with the Supreme Court the BHU's example of the adverse effect of using 'department' as the unit. For example, there were 1,930 faculty posts on May 12, 2017. If the BHU were to implement reservation based on using 'university' as the unit of reservation, 289 posts would have had to be reserved for SCs, 143 for STs and 310 for OBCs. Under the new formula of using 'department' as the unit, the number of reserved positions would go down to 119 for SCs, 29 for STs and 220 for OBCs.

Beginning of an end

Implementation of the department-wise reservation policy would have had a disastrous effect on other universities as well.

A study of 20 Central universities by the Central government has shown that reserved posts will come down from 2,662 to 1,241 in a year. The number of posts of professor would have reduced from 134 to just 4 for SCs; from 59 to zero for STs, and from 11 to zero for OBCs. But number of unreserved or general posts would have drastically increased, from 732 to 932. At the level of associate professor, for SCs it will have reduced from 264 to 48, for STs from 131 to 6, and for OBCS from 29 to 14. But here again the number of general posts would have increased from 732 to 932. In the case of assistant professor, the number of reserved posts would have reduced from 650 to 275 in STs, from 323 to 72 for SCs, and from 1,167 to 876 for OBCs. But the number of unreserved or general posts would have gone up from 2,316 to 3,233. Thus department-wise reservation was a sophisticated beginning of an end of reservation. If SC/ST candidates do not become professors, they cannot become vice-chancellors as only a professor with 10-year experience is eligible for this. In 2018, out of some 496 vice-chancellors of Central and State universities, there were just six SC, six ST and 48 OBC vice-chancellors.

The government deserves appreciation for the ordinance, though brought in belatedly on the eve of the elections to garner Dalit votes. But we need to do more to improve diversity on our campuses with more SCs, STs, OBCs, Muslims, persons with disabilities and sexual minorities being recruited as faculty as our campuses do not reflect social diversity despite the university being a unit for reservation. Let the score on the diversity index be a major criterion in giving grants to universities.

Faizan Mustafa is Vice-Chancellor, NALSAR University of Law, Hyderabad. The views expressed are personal

LETTERS TO THE EDITOR

Letters emailed to letters@thehindu.co.in must carry the full postal address and the full name or the name with initials.

The general election

Now that the schedule for the mammoth general election has been announced, the Election Commission should further specify regulations, like the use of social media, that must be implemented before the election. The challenge is to tackle the menace of fake news on social media. Further, the Election Commission should also look into implementing a strategy to ensure the continuation of people-centric projects, if any, during the model code of conduct.

VARUN S.D.,
Bengaluru

■ The election date for Tamil Nadu is April 18, Maundy Thursday. It is a holy day for Christians and falls right in the middle of the Holy Week just before Good Friday and Easter Sunday. Not long ago, there was a move to observe Christmas as Good Governance Day. I do hope the present election date is just a coincidence.

SANJAY PINTO,
Chennai

Nirav extradition

The national media, in one voice, excitedly reports that "Nirav Modi, wanted by the Indian authorities in connection with the ₹13,578 crore Punjab National Bank fraud case, is in London, living in a luxury apartment complex by Oxford Street". As expected, the Congress and the BJP have latched on to the subject as a weapon in their election campaign with the predictable face-off. Nirav Modi could not have done what he did without the active connivance of top officials. Believe me, he will be forgotten after the general election.

C.V. VENUGOPALAN,
Palakkad

Ayodhya mediation

The Supreme Court's attempt at mediation in the Ayodhya dispute provides a ray of hope. Some thought appears to have gone into forming this committee. Moreover, the choice of eminent mediators gives hope for a more unbiased decision. However, the non-participation of expert women in this settlement committee is a bit upsetting.

MEHAR SINGH,
New Delhi

Now, gamekeepers

The report, "Vidiyal heralds a new dawn: poachers turn protectors in Vidiyal" (March 4), took me down memory lane, having been involved in the reformation of poachers. As the then circle inspector of Gudalur, I lent support to the Kerala Forest Ranger, Raju Francis, in holding multiple parleys with poachers to surrender and accept their reformation programme. When we reached the goal and a "surrender ceremony" was organised in Thekkady, all went well till the point when the poachers refused to board the forest vehicle apprehending arrest in Kerala. It took me a while to convince them and vouch for their safe return. I even accompanied them to the ceremony. There were some hiccups following recidivism noticed among a few members. But, overall, the scheme is worth emulation by all forest departments.

M.X.B. STANLEY,
Madurai

Having a 'Parley'

The introduction of a new segment, "Parley" (OpEd, March 8), is sure to help readers get a wider view of expert opinion on current topics. It enhances the Editorial page, giving one a better idea of various issues.

MAHWISH FARUQUI,
New Delhi

■ For an ardent reader of the daily, "Parley" is another feather in a daily's brimming hat. The first topic was a good beginning.

ABHILASH A.,
Hiriyur, Chitradurga, Karnataka

MORE LETTERS ONLINE:
www.hindu.com/opinion/letters/

CORRECTIONS & CLARIFICATIONS:

The reference to *socialist* democratic SLFP should be corrected to read as *social* democratic SLFP in the report titled "An old party looking for a new lease of life" (Despatches, Magazine section, March 10, 2019).

It was not Hardik *Patel*: It was cricketer Hardik *Pandya* – along with his brother Krunal Pandya – who attended the wedding of Akash Ambani. The report, "Akash Ambani ties the knot with Shloka Mehta" (March 10, 2019), got the name wrong.

The Readers' Editor's office can be contacted by Telephone: +91-44-28418297/28576300; E-mail:readerseditor@thehindu.co.in

From a party to a movement

To be politically viable, the Congress must align with social protests outside the fold of electoral calculations

AJAY GUDAVARTHY

The Congress faces an uphill task. After the terrorist attack in Pulwama, it is playing it safe as usual – it has no narrative and is simply buying time for the hysteria to fade out. The party looks confused as to whether it should build on the nationalism narrative that has gained traction or raise procedural issues about India's response that have little appeal on the ground. Why is the Congress hesitant to produce an alternative narrative? Why does it insist on being silent instead of coming up with an emphatic narrative that can counter the ultra-nationalist rhetoric of the Prime Minister?

"The Congress should become the vehicle for mainstreaming various small struggles for basic survival." A farmers' protest in Indore on March 9. • PTI

The Congress's failures

To begin with, the Congress is worried about a Hindu consolidation against any possible critique that it might offer as an alternative narrative to the narrow ethnic nationalism of the Bharatiya Janata Party-Rashtriya Swayamsevak Sangh combine. This is a somewhat justified concern. For over half a century, the RSS has been doing work in the sociocultural domain that has set the terms of reference for others, while the Congress has done nothing in the cultural domain apart from building a rhetorical and half-hearted campaign for inclusive nationalism without mopping up social consent for it.

Further, the party itself aided and abetted the emerging Hindutva consensus, with former Prime Minister Rajiv Gandhi acting against the Shah Bano judgment and former Prime Minister P.V. Narasimha Rao paving the way for the controversy around the Babri Masjid. By introducing neoliberal reforms, the Congress dismantled the welfare state and the legitimacy of social democracy, while continuing with secularism as a social policy, which sections of the majority Hindu community began to perceive more and more as an appeasement to Muslims rather than as legitimate citizenship benefits.

Without a shared ethos on the ground, 'market fundamentalism' began to destroy the ideal of a harmonious social fabric of religious and caste groups. The Congress's 'politics of accommodation' took a beating when the Other Backward Classes first moved to regional parties and later to the BJP. In due course, the Congress became more and more dependent on Muslim and Dalit votes to win elections. In this scenario of induced dependence on the minority vote, the Congress began to look more tilted towards the Muslims without actually doing much for the community – it did not, for instance, enact effective policies to counter the kind of backwardness that was noted by the Sachar Committee report.

It is against this backdrop that the phenomenon of Narendra Modi emerged. Mr. Modi and the BJP began to actualise the RSS's vision of a Hindu Rashtra. Mr. Modi built his credibility both by highlighting the failures of the Congress as well as appropriating the liberal-progressive critique of those failures and packaging within that an aggressive majoritarian politics. The appeal of the Hindutva brand of politics is based on consolidating various micro-narratives to form a metanarrative of 'othering' Muslims. While dynasty became a symbol of old patronage politics, Muslim appeasement began to symbolise the various kinds of exclusions and failures in ensuring inter-generational mobility for Hindu caste groups. Mr. Modi occupied this symbolic space. The credibility and trust he enjoys today is the articulation of the angst of an aspirational new generation, and the anger of traditional caste groups.

Mr. Modi became the TINA (there is no alternative) factor of Indian politics. In spite of failure on the economic front, people are still not prepared to question his intention of *Saaf Niyat, Sahi Vikas* (clean intent, right development). The electorate today has nagging doubts about his competence, but not about his will and intention to do well. Mr. Modi's campaign for the Lok Sabha election is based on this reality on the ground. It affords him a space to contradict himself in his campaign speeches. Ministers and BJP leaders can afford to make claims of what transpired during the air strikes as well as make tall promises because the electorate continues to trust Mr. Modi and considers him to be beyond doubt and above critical interrogation. And that trust emerges from the Congress party's chequered history. Mr. Modi's campaign style and rhetoric reflect this deep trust that people have invested in him. There may be contradictions in his speeches, but people continue to justify all of this in the name of nation and religion.

What the Congress can do

In this situation, what can the Congress do? It needs to change the terms of reference and the lens through which the electorate today is evaluating things. This is a difficult task but not an impossible one. For this, the Congress needs to go back to being a movement. It needs to closely align with various social protests outside the fold of electoral calculations. It should become the vehicle for mainstreaming various small struggles for basic survival, including the struggles of *safai karamcharis*, Dalits, Adivasis, those displaced by development projects, internal migrants, students, and others. These are unheard voices on the fringes of society, and the Congress should try to make them heard.

Without such deep change in the the DNA of the Congress, it will be difficult for the party to be a viable political or electoral alternative. Social consensus has shifted to the right, across castes and classes in India. The RSS has made this possible in a diverse society such as India through its rugged survival in the margins for almost a century. What we are witnessing today are the fruits of that labour. It is through such sustained work that it has captured the public imagination. It has gained the capacity to now set the agenda for popular politics. It has learnt to co-opt all that is hegemonic in the public sphere to package its own exclusivist and authoritarian brand of politics. The Congress needs to get a handle on these micro-aspects to set a more inclusive agenda the way it did during the anti-colonial movement. Its own future depends on whether or not it is able to make this transition in the days to come.

Ajay Gudavarthy teaches at the Centre for Political Studies, School of Social Sciences, Jawaharlal Nehru University, New Delhi

FROM THE READERS' EDITOR

Sources are sacrosanct

The idea of common good binds the source and the reporter

A.S. PANNEERSELVAN

What can one make of the contradictory claims by the Attorney General of India? On March 6, he told the Supreme Court that "secret" documents published by *The Hindu* on the purchase of 36 Rafale jets were "stolen" from the Ministry of Defence, probably by former employees. On March 8, he informed the news agency PTI that what he meant in his submission before the Supreme Court was that the petitioners in the application had used "photocopies of the original" papers, deemed secret by the government. While the senior-most legal officer of the country was busy deciding whether the documents were stolen or photocopied, people on social media were attacking journalists for frequently citing unnamed sources in their reports.

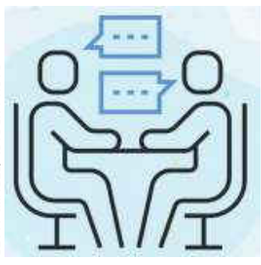

GETTY IMAGES/ ISTOCK PHOTO

Ethical framework

It is important for citizens to understand the legal and ethical framework that guides the relationship between a source and a journalist. The European Court of Human Rights, in *Goodwin v. the United Kingdom*, ruled: "Protection of journalistic sources is one of the basic conditions for press freedom... Without such protection, sources may be deterred from assisting the press in informing the public on matters of public interest. As a result the vital public-watchdog role of the press may be undermined, and the ability of the press to provide accurate and reliable information be adversely affected... An order of source disclosure ... cannot be compatible with Article 10 of the Convention unless it is justified by an overriding requirement in the public interest."

Norman Pearlstine's *Off the Record* is a fine book that examines the complex relationship between sources and journalists. Journalists take care not to confuse a whistleblower with a source. There are many unreasonable demands before investigative journalists. A sharp observation by James Risen, senior national security correspondent at *The Intercept* and director of First Look Media's press freedom defence fund, explains the challenges in front of a reporter: "We're being forced to act like spies, having to learn trade craft and encryption and all the new ways to protect sources. But we are not an intelligence agency. We're not really spies. So, there's going to be a time when you might make a mistake or do something that might not perfectly protect a source. This is really hard work. It's really dangerous for everybody."

I had explored one element of this relationship in an earlier column, "The relationship between journalists and their sources" (September 29, 2014). There are many interlocking factors that not only define the symbiotic relationship and but also spell out the obligations of journalists to their sources. My colleagues at the Reuters Institute for the Study of Journalism at the University of Oxford have spelled out the ground rules in "The Perugia Principles for Journalists Working with Whistleblowers in the Digital Age".

Publishing the truth

All major investigative stories draw their strength not only from the relentless work of reporters but also from conscientious sources who first alert reporters about the misdoing. Daniel Ellsberg's crucial role in releasing the Pentagon Papers is as important as the work of the reporters of *The New York Times* in exposing the U.S. military's role in Vietnam. From internationally known investigations like the Watergate stories, Snowden files, the thalidomide victims' reports, and the Panama Papers to our own investigations in the Bofors and Rafale cases, brave sources have risked everything to enable reporters to publish the truth.

The first principle in investigative journalism is to protect your sources and defend anonymity when it is requested. James Risen was nearly arrested by the U.S. administration because he refused to identify the source of information contained in his 2006 book, *State of War: The Secret History of the CIA and the Bush Administration*, about a bungled covert CIA operation involving Iran. The relationship between a source, who is willing to risk his or her career, reputation and future for the sake of truth, and a reporter cannot be reduced to a transactional equation. The relationship is built on trust and involves mutual respect. The idea of common good binds the source and the reporter. Hence, their relationship is sacrosanct.

readerseditor@thehindu.co.in

SINGLE FILE

Losing the information war

The Indian government no longer has viable channels to put across its point of view to the Western media

K.P. NAYAR

REUTERS

India is used to a negative international media. After the 1998 nuclear tests, the American media echoed the lines of Jesse Helms, then Chairman of the Senate Foreign Relations Committee, that "the Indian government has not shot itself in the foot. Most likely it has shot itself in the head." As events unfolded, its dire predictions turned out to be completely inaccurate.

The difference between then and now, when the global media has cast doubts about India's "non-military and preemptive" response to the Pulwama terrorist attack, is that the Indian version of events is hardly getting a credible hearing. This is because the Indian government no longer has viable channels to put across its point of view to the Western media. By acts of commission and omission, the Ministry of External Affairs (MEA), which should be in the driving seat for such publicity, has, over the last few years, discontinued a practice that might have persuasively argued the Indian position.

For some time now, foreign correspondents based in India have not been attending briefings by MEA spokespersons. They may have concluded that their time might be better spent on other stories as they tend to cover the entire subcontinent and have enough on their plate.

This was not the case earlier. For many decades, following the daily briefing by the MEA spokesperson, Indian and foreign correspondents would gather at 4.30 p.m. for background banter over tea and samosas. It gave an opportunity for the spokesperson, who was sometimes joined by heads of MEA's territorial divisions, to informally put across what he or she could not say on record about India's stake in diplomatic jugglery. Inevitably, some of this would be published in reports.

That did not happen with events post-Pulwama. The daily briefing by the MEA spokesperson seems to have faded in importance. Towards the end of Manmohan Singh's tenure as Prime Minister, the daily briefing was scrapped in favour of weekly briefings. That worked as long as the spokesperson was accessible to foreign correspondents in New Delhi 24x7 or on call. That is no longer the case. In the new millennium, changes were made to the MEA's outreach using new technology, modelled on the U.S. State Department, making it easier to find information.

Such useful content is no longer available on the MEA's information outlets. The brief for spin doctors of Prime Minister Narendra Modi's diplomacy has been to convince the domestic audience that India is a great power. Earlier, the brief was to convince the world that India is an emerging giant in global affairs. With this change in priorities, the government is unable to disseminate information that could have produced a more sympathetic global media on the current play in India-Pakistan relations.

The writer has been a foreign correspondent for nearly three decades

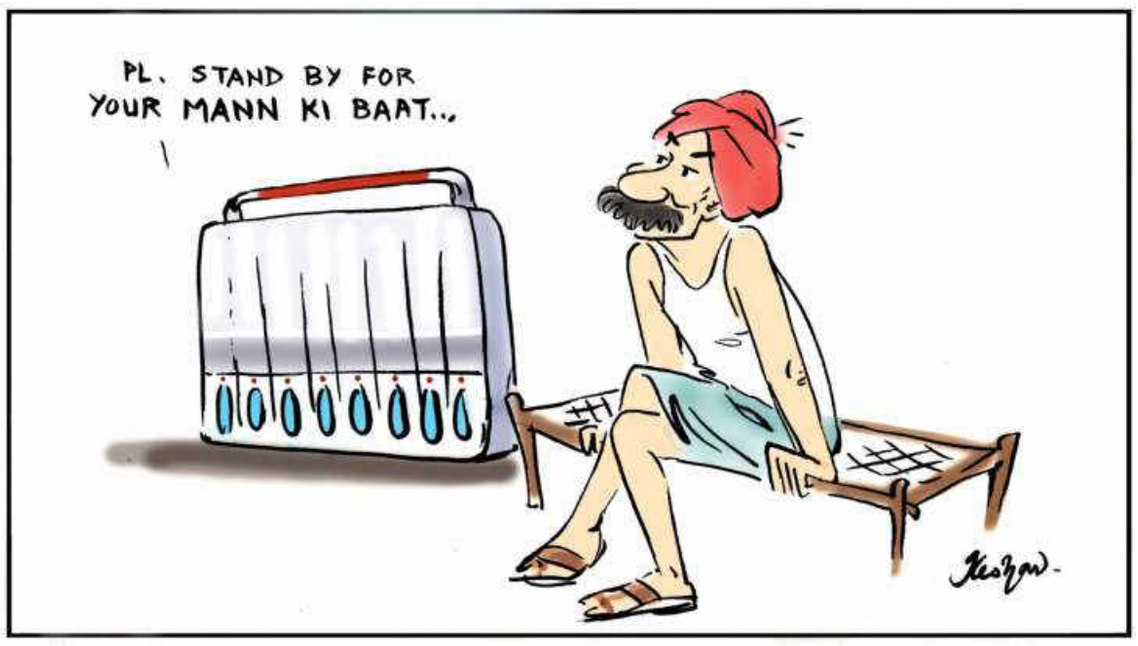

DATA POINT

Grading cleanliness

Urban Local Bodies in Chhattisgarh are the cleanest among all States, according to the Swachh Survekshan 2019 report. Due to poor citizen feedback, some ULBs did not manage a better overall score despite good scores on other parameters. By **Varun B. Krishnan**

Scoring States

Close to 69% of the ULBs in Chhattisgarh were ranked among the top 500 (out of 4,237). Jharkhand and Maharashtra are the other two States in the top three. States which secured the three lowest scores were in the Northeast. West Bengal opted to not participate in the survey

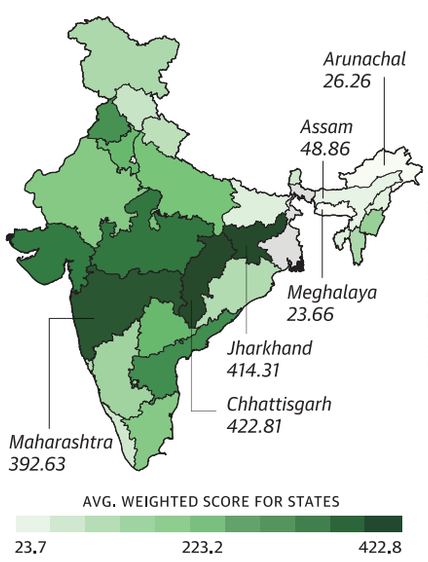

People factor

Analysis of the top 200 ULBs shows that in some, citizen feedback was a crucial factor in improving or worsening the total score. ULBs marked in blue (○) have a population of less than one lakh people (rest have more than 1 lakh) (○)

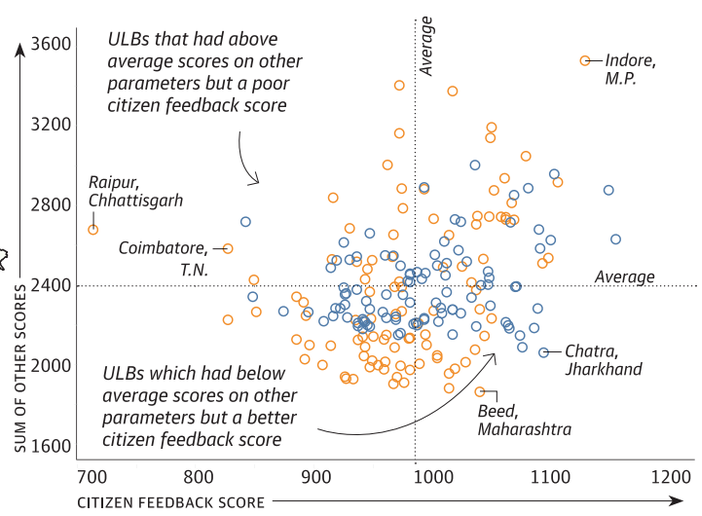

Weightage

The scores used to compare States on the map were adjusted for the differential rate of urbanisation. Also, instead of actual scores, relative ranking was used to normalise the analysis metric. On the other hand, the scatter diagram on the right has unweighted scores of the top 200 ULBs

The survey grades each Urban Local Body for a total of 5,000 marks. The scoring system has 4 components, each with 25% weightage

The four components: Service level progress (eg. solid waste management), direct observation, citizen feedback and certifications (eg. ODF certified)

Both the unweighted and weighted scores were released for analysis

FROM The Hindu. ARCHIVES

FIFTY YEARS AGO MARCH 11, 1969

Desai threatens to quit

Mr. Morarji Desai, Deputy Prime Minister, is reported to have told a meeting of the Executive of the Congress Parliamentary Party here [New Delhi] today [March 10] that if some of the partymen were allowed to go on maligning him in public, he might have to think of retirement. Mr. Desai made this statement when there was a brief but heated discussion on some of the remarks made by Mr. Chandra Shekhar in the Rajya Sabha last week during the debate on Birla affairs. Although it was not part of the agenda for the meeting today [March 10], the matter was raised by Mrs. Tarakeshwari Sinha, who had earlier written to the leader of the party drawing attention to some partymen singling out certain Ministers for attack while criticising the Government's policies, and urging the need for effective steps to enforce discipline.

A HUNDRED YEARS AGO MARCH 11, 1919.

Sir Rabindranath Tagore on National Education.

Sir Rabindranath Tagore delivered a masterly address on "National Education" last evening in the Gokhale Hall [in Madras on March 10] at 5-30 in a silvery tone which was distinctly heard by one and all of the large audience. The Hall and the galleries were filled to their utmost capacity. Ladies and gentlemen of all classes and creeds were present. The address was listened to with rapt attention. Admission was by tickets... Sir Rabindranath Tagore, in the course of his address, said that the question which he wished to discuss was what should be the ideal of education in India? Upon each race the duty was laid to keep alight its own lamp of the mind as representing its own thought in the illumination of the world. To break the lamp of any people was to deprive it of its rightful place in the world festival. He who had no light was unfortunate enough, but utterly miserable was the man who, having light, had afterwards been deprived of it or forgotten its existence.

CONCEPTUAL

Twin studies

BIOLOGY

This refers to scientific studies conducted on identical twins who share the same set of genes. It is believed that twin studies can be an effective way to answer several questions related to human behaviour, including the influence of genes and environment on the behaviour of individual human beings. Behavioural scientists may employ twin studies to understand the behaviour of identical twins who share the same set of genes but were adopted by different families and thus grew up in significantly different environments. Such twin studies can help scientists to successfully isolate the influence that the environment has on the behaviour of individuals.

MORE ON THE WEB

Indian Premier League – winners and highest scorers

http://bit.ly/IPLhighlights

d Bihar. The Opposition, however, hopes the narrative will change to development once the hysteria dies

he in Hindi heartland

tive in Uttar Pradesh and Bihar ahead of the Lok Sabha elections. FILE PHOTO

Emotions running high but Bihar far from done deal

JITENDRA K SHRIVASTAVA IN PATNA

Much like the rest of the country, Bihar seethed with anger following the Pulwama attack that claimed the lives of over 40 CRPF jawans. People, particularly youth, wanted revenge. And when the Indian Air Force (IAF) bombed the Balakot terror camps inside Pakistan, they were thrilled, with patriotic sentiments hitting the crescendo.

Among the Pulwama martyrs, two were from Bihar. One more was martyred in an anti-terrorist operation soon after the ghastly attack. The state echoed with anti-Pakistan slogans as the angry and anguished people held impromptu protests and candle marches, demanding strong action against Pakistan. Nothing else, they said, would wipe tears from the faces of the families of the slain jawans. In the backdrop of such strong emotions, when the revenge was delivered by the IAF, followed by the safe return of Wing Commander Abhinandan Varthaman from Pakistan's captivity, the people were ecstatic and, understandably, appreciative of the Narendra Modi government for showing the gumption to attack the terror camps inside Pakistan.

"This surgical strike has galvanised people in favour of Narendra Modi. Like in the rest of India, the patriotic and nationalistic sentiments are soaring high here," said former Bihar Chief Minister and *Hindustani Awam Morcha* (Secular) chief Jitan Ram Manjhi. Manjhi, though, didn't like the way the BJP started "doing politics" over the issue soon after. "The Opposition comprising 21 parties extended support to the Modi government for its action against terrorism. But the Prime Minister and BJP president Amit Shah started doing politics over the surgical strike and claimed 300 terrorist were killed in the Balakot airstrike to take political mileage," he said.

Patriotism and politics

As for the political upshot of the Balakot strike with regard to the upcoming Lok Sabha elections, the crackdown on terror seems to have swayed at least the youth towards the BJP. They seem quite impressed with Modi's gumption to hit the terror camps inside Pakistan. "The Modi government did nothing (otherwise) but its act against the terror-nurturing Pakistan has won my heart and of other youths," said Anil Singh, an east Champaran resident. "National security comes ahead of other issues. The Congress-led government dishonoured India when it failed to retaliate following the terror attack on Parliament and in Mumbai, but the Modi government has left no stone unturned in exposing Pakistan on the international stage."

The Janata Dal (United), the BJP's ally in Bihar, is understandably keen to interpret the prevailing mood in Modi's favour. "Youth, mainly in the Hindi heartland, is very sensitive and serious about national security and integrity. Due to social media, they are aware of the action taken against terror and it appears they would go with Modi," said JD (U) spokesperson Neeraj Kumar.

The Opposition, too, concedes the anti-Pakistan sentiment is extremely strong in Bihar. Yet, it can't be ascertained how it will play out politically as the elections in Bihar are fought more on social equations.

"If the BJP claims 300 terrorists were killed in the Balakot strike, then it should have come up with proof too," said senior Congress leader and party spokesperson Prem Chandra Mishra. "If it wants to exact political mileage out of it, then it must remember that polls in Bihar are contested on social equations. People are fed up with the policies of the Modi government, so the government is trying to use airstrikes to divert people's attention from development, but they will not succeed.

"The BJP had made tall promises like providing jobs to youth, bringing back black money, etc., ahead of the 2014 polls but failed to fulfil them. So, the Modi government wants to keep the border tense till the elections, hoping to garner some votes," said Mishra.

> If the BJP wants to exact political mileage out of Pulwama and Balakot, then it must remember that polls in Bihar are contested on social equations. People are fed up with the policies of the Modi government, so the government is trying to use airstrikes to divert people's attention from development, but they will not succeed.
>
> **Prem Chandra Mishra,** CONGRESS LEADER

Many argue that the Pulwama tragedy and the subsequent actions should not be used for political advantage. "It is wrong to play with the patriotic sentiments of the people. There should not be politics over martyrdom," says Mukesh Kumar Jha, a social worker from Darbhanga. "The BJP politicised the matter when Shah claimed 300 terrorists were killed in Balakot, even though the Air Force chief refused to get into the number game. As we saw after the 1971 War and the Kargil conflict, the patriotic sentiments do not necessarily translate into votes for the ruling dispensation."

Echoing his thought, Purnea resident Vijay Kumar Sreevastav said: "Sentimentally, people are with PM Modi who retaliated against the terrorist attacks in Uri and Pulwama, but politically they are with those who talk of development."

"The Modi government had lost all four Lok Sabha seats of Seemanchal (Purnea, Araria, Kishanganj and Katihar) in the last Parliamentary elections. People vote for those who keep their promises. PM Modi's promises of a civil airport and Central School in Purnea stand unfulfilled."

AR'S EX CM JITAN RAM MANJHI TALK ON THE IMPACT OF BALAKOT ON BJP'S FORTUNES

'BJP won't be able to turn patriotic sentiments into votes'

Can the Balakot airstrike swing the narrative in the upcoming Lok Sabha elections in favour of NDA in Bihar?

Largely, soldiers come from simple and downtrodden families from remote villages, where the sense of patriotism is very strong. Following Pulwama, they were angry, hurt and wanted some punitive action. The Balakot airstrike was the revenge they wanted, so the patriotic sentiment is very high at the moment. But the people won't like it if the issue is politicised for electoral gains, which the BJP is doing. It's impossible to translate patriotic sentiments into political gains.

Why do you think the BJP-led NDA is doing politics over the Pulwama terrorist attacks?

The Modi government made several promises like creating jobs, bringing back black money, etc., but failed to keep them. It has failed on every front and, in desperation, is using the Pulwama incident for electoral gains. Modi is trying to return to power using three-pronged policy — one, by destroying communal harmony; two, the Ram temple issue; and three, by whipping up the anti-Pakistan hysteria. Since the first two didn't work, he has turned to the third option now, but he won't succeed.

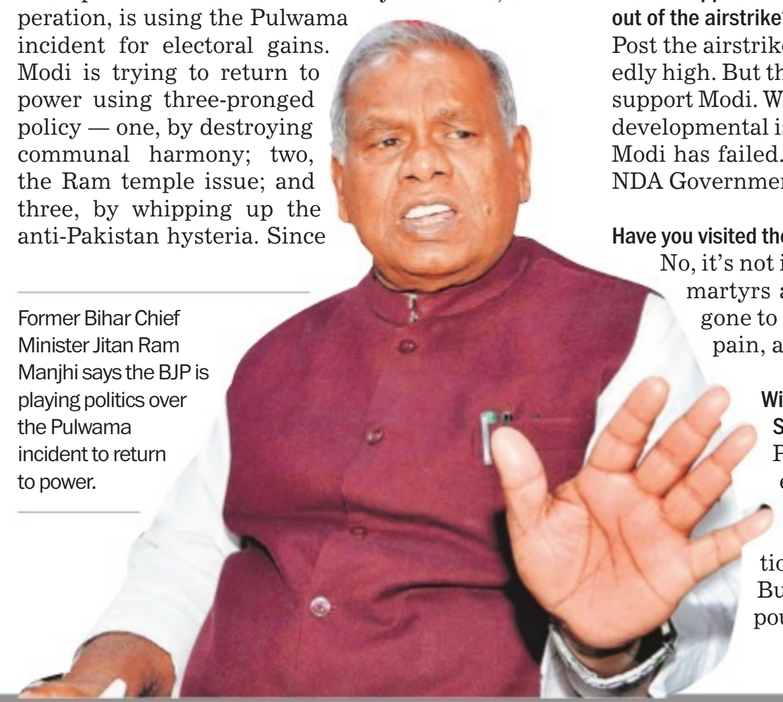

Former Bihar Chief Minister Jitan Ram Manjhi says the BJP is playing politics over the Pulwama incident to return to power.

Isn't the return of Wing Commander Abhinandan Varthaman India's diplomatic victory over Pakistan?

Pakistan released Abhinandan as it was supposed to act in compliance with the Geneva Convention. If the Modi government projects it as its diplomatic win, it shows it wants to take political mileage. The Opposition comprising 21 parties had extended support to the Modi government to avenge the Pulwama attack, not to play politics over it. Now as they have claimed that 300 terrorists were killed in the airstrike, they must prove it, or at least show that Pakistan incurred a substantial loss.

Can the Opposition stop NDA from taking political mileage out of the airstrike?

Post the airstrike, the patriotic sentiment is undoubtedly high. But that doesn't mean people will favour or support Modi. With time, normalcy will return and the developmental issues will be back on the table, where Modi has failed. We will expose the gimmicks of the NDA Government, and ask people to reject it.

Have you visited the families of the Pulwama martyrs?

No, it's not imperative that I meet the families of martyrs all the time. Our other leaders have gone to see them. We see them to lessen their pain, and not for politics.

Will Pulwama be an election issue in the Lok Sabha elections?

Prime Minister Narendra Modi is an eloquent speaker and people pay attention to what he says. He will strive hard to make Pulwama an election issue and exact political mileage. But voters are intelligent enough to pour cold water on his ambitious politics.

— *JKS*

Post Pulwama and Balakot, the surge in nationalist sentiments has resurrected the saffron party in UP and

BJP back in the gam

SHAHIRA NAIM IN LUCKNOW

BRITISH Prime Minister Harold Wilson had famously said: "A week is a long time in politics." The saying has proved to be more than apt for the BJP in Uttar Pradesh during the past month. The saffron party that had been teetering on the brink of a disaster seems to be back in the game. The Balakot airstrike on a JeM militant training camp in Pakistan, followed by the verbal bombardment by Prime Minister Narendra Modi, BJP president Amit Shah and Chief Minister Yogi Aditynath, has managed to change the narrative in Uttar Pradesh ahead of the crucial Lok Sabha election.

The development has caught the SP-BSP alliance off guard. What was being perceived as a smooth sail for the alliance now appears to be an uphill task. Worst still, the major casualty in such a changed scenario has been the truth and the basic democratic spirit of agreeing to disagree with one's opponent. Speaking to people across the spectrum makes it apparent that suddenly there is no middle ground. One either agrres with the BJP government's position or is an anti-national.

It is in this context that BSP supremo Mayawati has been grappling to counter the changed narrative. Last week, she held a crucial party meeting to seek feedback on the implications of the airstrike from grassroots workers and is now reworking her strategy accordingly for the Lok Sabha polls.

Leaders of the SP-BSP alliance are treading very carefully in this altered scenario. Associates close to them admit that both Mayawati and Akhilesh Yadav are acutely aware that even the slightest of faux pas or an insinuation about the airstrike or military action ordered by Prime Minister Modi could seal their fortune for good.

> In UP, the BJP was teetering on the brink in the face of the SP-BSP alliance. However, in the aftermath of the airstrike, an opinion poll predicts the saffron party has made a significant recovery

They are still working on a counter strategy which will question Modi's action without hurting the emotions unleashed by the BJP offensive. The fear of the opposition leaders is largely true. Vernacular journalist from Maharajganj in eastern Uttar Pradesh Deepak Sharan Srivastava admits that starting with the Pulwama incident, the airstrike and the incidents that followed the scenario has altered.

"Suddenly, people who were earlier angry with the unfulfilled promises of the BJP government's on its development agenda, have backtracked. Maharajganj district headquarters is yet to be connected through the railways. Till a month ago, people of Maharajganj were angry that the sitting BJP MP, Pankaj Choudhary, despite his fifth term there, has not fulfilled his promise to connect the district through the railways."

Now the same people, who have been very vocal about this demand for development, have gone silent in the face of the rising jingoism and war hysteria, says Srivastava. Mamta Singh, who works with an NGO in Lucknow, says after the airstrike a group of citizens had decided to hold a candle-lit vigil in a public place to urge common citizens to gather there and support a call for saying no to war. "I was surprised when many people, including activists, teachers and lawyers, who were invited for the vigil, became aggressive and accused the citizens who took the initiative of being anti-national.

"'Instead of supporting the Modi government in strongly attacking Pakistan, you people are taking the side of the enemy by asking for peace which is a betrayal of national interests', they argued. Their reaction spoke volumes about the changed atmosphere in favour of the BJP," argues Mamta.

This perception is confirmed by two contrasting opinion polls. A *Times Now*-VMR survey report released at the end of January 2019 showed that the NDA was in for a shock in the country's most political significant state of Uttar Pradesh. The survey showed that the BJP's tally was likely to slump to just 27 out of the total 80 seats.

This prediction was a major reversal as in the 2014 Lok Sabha elections the BJP had won 73 seats from Uttar Pradesh along with its ally Apna Dal, facilitating its majority government at the centre.

The survey claimed that the BJP's vote share was also expected to be dip by 4.4 per cent. The SP-BSP alliance was said to be the main beneficiary of the BJP's declining fortunes. The survey gave the SP-BSP alliance as many as 51 seats as against the five seats it had won in 2014. The Congress was not expected to win more than the two seats allocated to it by the SP-BSP alliance.

However, after the airstrike, the India TV-CNX Opinion Polls, released on March 5, shows that the saffron party has made significant recovery since February 28.

The India TV and CNX opinion poll, the first since the Pulwama terror attack and airstrike, tried to gauge the mood of the nation through the voters in Uttar Pradesh.

It predicts that the BJP has made significant recovery, so much so that if the Lok Sabha elections were held immediately the BJP was expected to gain 12 additional seats in Uttar Pradesh and end up winning 41 of total 80 seats. According to the survey, the BJP's vote share stands at 40.95 per cent, just two per cent less its 2014 vote share of 42.63 per cent. The SP-BSP alliance will lose 14 seats in the post airstrike scenario, taking its tally to 35 seats. However, some analysts differ with this evaluation. They point out that once the elections are announced and the opposition leaders fan out in the hinterland exposing how the BJP government had managed to distract them by putting the development agenda on the back burner, the narrative may change once again. "It is unlikely that the Muslims, Dalits and OBCs, who have been neglected and harassed under the present regime, will suddenly switch sides," feels Manoj Singh, who runs a local web channel in Gorakhpur.

At the moment, it is difficult to say who would have the last word or vote for that matter.

TWIST IN THE TALE : The Balakot airstrike on a JeM militant training camp in Pakistan, followed by the verbal bombardment by Prime Minister Narendra Modi, has changed the political narrat

CAUGHT OFF-GUARD: The BSP-SP alliance seemed unbeatable before the Pulwama attack and the Balakot airstrike.

FACE-OFF: BJP GEN SECY VIJAY BAHADUR PATHAK, IN-CHARGE WESTERN UP, AND BIHA

'Airstrike has shown Modi is a strong and dependable leader'

There is an opinion poll that says the Balkot airstrike has greatly helped the BJP recover lost ground in Uttar Pradesh. Your comments.

I don't think the party is dependent on any opinion poll to know this. It has little to do with the Pulwama attack or the airstrike. This is more due to the policies of the BJP government in the centre and the state as well as the continuous hard work of the party cadre, which has been quietly preparing for the Lok Sabha elections for the last two years.

Despite working for the last two years, an opinion poll barely a month ago was predicting heavy losses for your party. What has happened between then and now?

During the last six months, the BJP's outreach programme has launched 146 programmes to reach out to the people. BJP national president Amit Shah has fixed a target for 2019 to capture 74 of the 80 seats, one more seat than what BJP won in 2014. So every party worker has his or her task clearly spelt out and eyes firmly focussed on the goal.

The party has innovative programme to connect with the people. Things take time to make an impact. The environment is slowly changing.

So it is just the BJP outreach programmes? Has the events at the border not added any impetus?

Why not? People of the country have been energised by the events. They have seen for themselves what a decisive leader Prime Minister Narendra Modi is. He does not believe in empty talk but in action. The events following Pulwama, the airstrike, the diplomatic pressure exerted on Pakistan and the successful return of our pilot have fittingly illustrated that PM Modi is a strong and dependable leader. It also proved beyond doubt that the nation is safe in his hands.

So the Pulwama attack and the developments after that have indeed helped the BJP.

It has aptly illustrated the BJP's tagline for the Lok Sabha election 2019 — *Modi hai toh namumkin ab mumkin hai* (With Modi the impossible is now possible).

Vijay Bahadur Pathak says the developments after the Pulwama attack illustrates the BJP's tagline for the elections — *Modi hai toh namumkin ab mumkin hai*

There are other factors that have also been working in favour of the party. It is the fulfilment of our promise of *Sabka saath sabka vikas*. People have seen how this government worked without prejudice for every section of society. And then people were witness to PM Modi not yielding to pressure and standing up to squarely face the challenge at the border. People like strong leaders as they feel safe with them at the helm of affairs.

— SN